प्रकाशक—
ऋषभचरण जैन,
मालिक—साहित्य-मंडल
बाज़ार सीताराम, दिल्ली।

पहली बार

फ़रवरी, १९३२

मुद्रक—
बाबू बृजलाल गुप्त,
मालिक—चन्द्रगुप्त प्रेस,
चावड़ी बाज़ार, देहली

प्रकाशक के शब्द

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री० चम्पतरायजी जैन, विद्या-वारिधि की अंग्रेज़ी-रचना Faith, Knowledge and Conduct का हिन्दी-अनुवाद है। बैरिस्टर साहब उन महापुरुषों में से हैं जिन्होंने सत्य-धर्म और ज्ञान के प्रचार के लिये अतुल परिश्रम किया है। जिन लोगों को आप से मिलने का मौक़ा मिला है, वे आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य, और गहन अध्ययन के क़ायल हैं। आपने अंग्रेज़ी-भाषा में अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्नों की रचना की है, जिनमें से Key of Knowledge-नामक पुस्तक संसार की श्रेष्ठ दार्शनिक-रचनाओं में गिनी जाती है। सार्वजनिक जीवन में जान-बूझकर प्रवेश न करने, और मौन-सेवा (silent service) को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाने के कारण सर्व-साधारण में बैरिस्टर साहब का नाम उतना प्रचलित नहीं है, जितना होना चाहिये, फिर भी, जो लोग दर्शन, मनोविज्ञान और तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन में अनुराग रखते हैं, उन्होंने अनेक अवसरों पर आपका गुण-गान किया है।

बैरिस्टर साहब ने अपने समस्त ग्रन्थों में जैन-धर्म की महानता का प्रतिपादन किया है। वे स्वयं जैन-कुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनकी इस धारणा को पक्षपात-पूर्ण समझा जा सकता है। परन्तु बात इसके प्रतिकूल है। एक समय था, जब आपको जैन-धर्म के सिद्धान्तों पर घोर शङ्का थी, और और आप पक्के जड़-वादी (Materialist) थे। परन्तु जब आपने ध्यानपूर्वक भिन्न-भिन्न धर्मों का अध्ययन किया, और खुले दिमाग़ से मनन किया, तो आपको जैन-धर्म की महानता और सत्यता स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा दिखाई न दिया।

जो लोग सत्य-ज्ञान की खोज करने के इच्छुक हैं, और पक्षपात-शून्य होकर उसके प्रकाश में अपना भविष्य स्थिर करना चाहते हैं, हम उनसे विनय करेंगे, कि वे एक बार बैरिस्टर साहब के ग्रन्थों का अध्ययन कर जायें। अंग्रेजी भाषा में उनके सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, कुछ के हिन्दी और उर्दू-अनुवाद भी हो चुके हैं। हम शेष पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करने के प्रयत्न में हैं। बैरिस्टर साहब की पुस्तकों को पढ़ने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को सब से पहिले प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये, इसीलिये सब से पहिले इसका

प्रकाशन किया गया है। यदि पाठकों ने हमें उत्साह दिलाया, तो हम शीघ्र ही इस माला की अन्य पुस्तकें लेकर उपस्थित होंगे।

इस पुस्तक में आत्मा का अस्तित्व और उसकी अमरता सिद्ध करने में वैरिस्टर साहब ने जैसी विद्वत्ता का परिचय दिया है, कोई भी दार्शनिक विद्वान् उसकी महत्ता स्वीकार किये विना न रहेगा। साथ ही जैनियों के जटिल 'स्याद्वाद'-तत्त्व का वेहद सरल और सुन्दर विवेचन भी पाठकों को एक नई और अनोखी वात वतायेगा।

एक वात अनुवाद के विपय में और कहनी है। हमें खेद है, कि अनुवाद सन्तोप-जनक न हो सका। फिर भी स्वयं वैरिस्टर साहव की सहायता उपलब्ध होने के कारण उस में वहुत-कुछ संशोधन करा दिया गया है, और भापा को सरल, प्रवाह-पूर्ण और वा-मुहावरा वना दिया गया है। आशा है, साधारण पाठक को भी इसे समझने में अधिक कठिनाई न होगी।

ऋषभचरण जैन

भूमिका

(लेखक—श्रीयुत सुकुमार चटर्जी-महोदय)

ज्ञान, श्रद्धा और आचरण—तीनों अभिन्न पदार्थ हैं। विना ज्ञान के श्रद्धा और विना श्रद्धा के ज्ञान का होना, और विना ज्ञान और श्रद्धा के आचरण को मुक्ति-पथ पर लेजाना असम्भव है। लेखक-महोदय की इस, और अन्य पुस्तकों में समन्वय-तत्व का पूर्ण विकास पाया जाता है, जो प्रायः बड़े से बड़े लेखकों में नहीं रहता।

प्रत्येक धर्म में, प्रत्येक मत-मतान्तर में, अथवा उनकी शाखा-प्रशाखाओं में, एक सम-स्वर रहता है। लेखक-महोदय ने, अपना समस्त जीवन इसी सम-स्वर के अन्वेषण में समर्पित किया है, और जाति, समाज, राष्ट्र, सभ्यता, भाषा, देश-आदि के विभिन्न ताल-वेतालों में से 'सम' को खोज निकालने में जो सफलता आपको मिली है, हम साहस के साथ कह सकते हैं, कि वह इने-गिने लेखकों को ही मिली है।

आपकी इस सफलता का सब से बड़ा कारण यह है, कि आपने निष्पक्ष भाव से सत्य-ज्ञान की खोज की है। इस खोज के फल-स्वरूप आप क्रमशः—जड़वादी, और चैतन्य

का उपहास करनेवाले की जगह दार्शनिक, वैज्ञानिक, विभिन्नता में एकता खोजनेवाले, संघर्ष में शांति दिखानेवाले, माया में मोक्ष की छाया उपलब्ध करनेवाले, और महा–त्यागी बन गये।

इस पुस्तक में पदार्थ-विज्ञान (Physics) के आलोक-रश्मि के सूत्र (Laws of the reflection of Light) के आधार पर, अद्भुत, मौलिक, अभूतपूर्व और अकाट्य प्रमाणों के सहारे मन, ज्ञान और आत्मा का अमरत्व सिद्ध किया गया है। संसार के दर्शन–विज्ञान के इतिहास में यह एक नई बात है।

ऐसे ऋषि-कल्प लेखक की पुस्तक की भूमिका लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है, परन्तु सूर्य देवता की भी आरती की ही जाती है, इसीलिये यह साहस किया गया है।

यूनान की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार 'जलादो दर्शनों के पुस्तकालय, क्योंकि उन सब का मूल्य इस पुस्तक में है'—प्रस्तुत पुस्तक के विषय में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी।

सम्यक्-दर्शन (श्रद्धा)

सम्यक्-दर्शन का श्रद्धान है :—

(अ) १—भगवान अर्हन्त सच्चे देव हैं;

२—अर्हन्त का वचन सच्चा शास्त्र है;

३—निर्ग्रन्थ (जैन-साधु) सच्चे गुरू हैं।

(ब) १—आत्मा अपने असली स्वरूप में परमात्मा है, जो जिन-प्रणीत मार्ग पर चलकर परमात्मा बन जाता है;

२—सात बड़े तत्व हैं, जिनके कारण अनन्त पुरुष परमात्मपन की पूर्णता और विभूति को प्राप्त कर चुके हैं;

३—सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र मिलकर—अलग अलग नहीं—आत्मा के उद्देश्य की सिद्धि के कारण हैं;

(स) १—सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का चतुर्विधि संघ है, जिस में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सम्मिलित हैं;

२—मार्ग दो प्रकार का है (१) साधुओं का ऊपरी और कठिन मार्ग (२) तथा प्रारम्भिक और आंशिक मार्ग, जो उन पुण्यात्माओं के लिये है, जो अभी साधुपद को प्राप्त करने की शक्ति नहीं रखते हैं;

३—और—साधु का मार्ग पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पाँच समिति, और तीन गुप्ति-रूप है, और गृहस्थ का मार्ग १२ व्रत और सल्लेखना को धारण करना है।

सम्यक्-ज्ञान।

भाग प्रथम—अन्वेषण का तरीक़ा।

१. निक्षेप।

निक्षेप किसी वस्तु के नामकरण को कहते हैं; जो केवल व्यवहार की सुगमता के लिये रक्खा जाता है। शब्दों से भाषा बनती है, और भाषा के द्वारा ही यह सम्भव है कि हम एक-दूसरे के साथ सहूलियत से बातचीत कर सकें! भाषा के अभाव में किसी भी सभ्यता का होना असम्भव है।

संज्ञायें (Nouns) वस्तुओं के नाम हैं। उनसे हमें एक लम्बे-चौड़े वर्णन् को संक्षेपतः केवल एक ध्वनि में परिणत करने की योग्यता प्राप्त है। यदि कभी हमें किसी वस्तु का उल्लेख करने का अवसर मिले और प्रत्येक ऐसे अवसर पर

हमें उसका पूरा-पूरा वर्णन करना पड़े, तो यह क्रिया बड़ी बेहूदी होगी, और इससे गड़बड़ होना असम्भव न होगा। नामकरण के द्वारा यह कठिनाई सहज में दूर होजाती है। अतः वे सब प्राणी, जो बोल सकते हैं, मनुष्यों, स्थानों और वस्तुओं के नाम-रूप में शब्दों का व्यवहार करते हैं।

लोग वस्तुओं के नाम चार प्रकार से रखते हैं :—

(१) नाम-निक्षेप—जैसे किसी मनुष्य को वुल्फ (Wolf=भेड़िया) आदि कहना।

(२) स्थापना-निक्षेप—वस्तु के स्वाभाविक अथवा काल्पनिक गुणों को लक्ष्य करके कहना; जैसे, संस्कृत पाषाण को नेलसन की मूर्ति कहना, और शतरञ्ज के मोहरों को राजा और वज़ीर बताना।

(३) द्रव्य-निक्षेप—वस्तु की भावी शक्ति को लक्ष्य करके उल्लेख करना; जैसे एक राजकुमार को राजा और डाक्टरी के विद्यार्थी को डाक्टर कहना।

(४) भाव-निक्षेप—वस्तु के कार्य के अनुसार नामोल्लेख करना; जैसे पूजा करनेवाले व्यक्ति को पुजारी कहना।

यदि भाषा के भाव को समझने में कठिनाई हो, तो निक्षेप के विशेष्य का उल्लेख करने से बहुत सहायता मिलेगी। उदाहरण के रूप में यह वाक्य 'राजा पकड़ा गया' संशयात्मक है। इसका अर्थ वास्तविक राजा का पकड़ा

जाना, और शतरञ्ज में राजा का पकड़ा जाना भी हो सकता है। अब यदि इस वाक्य के साथ इस बात का ज़िक्र कर दिया जाय कि शब्द 'राजा' कौन-से निक्षेप, नाम-निक्षेप या स्थापना-निक्षेप, की अपेक्षा रखता है, तो यह झंझट दूर होजाय और भाषा का अर्थ बिल्कुल साफ़ बन जाय! बस, निक्षेप का यही महत्व है!

२. श्रेणी-बद्धता।

वस्तुओं के विशेष चिन्हों के आधार से श्रेणी-बद्धता (classification) होती है। चिन्ह

(१) श्रेणी के सभी सदस्यों में मौजूद होना चाहिये; जैसे पक्षियों में पर;

(२) श्रेणी के बाहर नहीं मिलना चाहिये, और

(३) असम्भव न होना चाहिये।

यदि श्रेणी-बद्धता ठीक-ठीक न होगी, तो अन्त में वह हर तरह की कठिनाइयों में हम को डाल देगी। यदि हम मनुष्य को दो पैरवाला जानवर कहें, तो हमें शुतरमुर्ग़ को भी मनुष्य कहना होगा! यदि हम दाढ़ी को मानव-समाज का विशेष-चिन्ह स्वीकार करें, तो स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे इस श्रेणी में नहीं आ सकेंगे। और इससे भी जीवन का कोई कार्य न सधेगा, यदि सींगों को मनुष्य-जाति का ख़ास चिन्ह प्रकट किया जाय!

३. नयवाद ।

वस्तुओं में अनेक अपेक्षायें देखने को मिलती हैं। उदाहरणतः सामान्य गुणों के साथ-साथ वस्तुओं में विशेष गुण भी मिलते हैं। साधारण और विशेष गुण अलग-अलग हमें कभी नहीं मिलते। सामान्य उदाहरण के तौर पर आम के पेड़ को ले लीजिये। उसमें ऐसे बहुत-से गुण हैं, जो दूसरी जाति के पेड़ों में भी हैं; और उनके साथ ही उसमें ऐसे खास गुण भी हैं; जो उनसे अलग अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। किन्तु भाषा के लिये यह सम्भव नहीं है, कि उसके द्वारा एक वस्तु के समस्त गुणों को एक-साथ, एक समय में ही कहा जा सके। क्योंकि भाषा शब्दों की बनी हुई है, और शब्द वस्तुओं के एक-एक गुणों को प्रकट करने में समर्थ हैं, और वह परिमित रूप (limited sense) में ही व्यवहृत किये जा सकते हैं। उदाहरणतः शब्द 'आम' साधारणतया उन गुणों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है, जिनके कारण आम अन्य पेड़ों से विभिन्न प्रकट होता है।

मनुष्यों की रोजमर्रा की भाषा में शब्दों के व्यवहार में खास खास अपेक्षायें (नय) काम करती हुई मिलती हैं। वे हैं :—

(१) एक काल्पनिक या मिश्रित भाव में, अर्थात् एक

घटना का वर्णन् किसी भूत या भविष्यत् घटना के अनुसार करना; जैसे यह कहना कि 'आज अंतिम तीर्थङ्कर महावीरजी का निर्वाण-दिवस है।' (किन्तु वस्तुतः महावीरजी ने आज से २४०० वर्ष से अधिक पहले निर्वाण प्राप्त किया था।)

(२) एक जाति या वर्ग या श्रेणी के भाव में, जैसे कहना 'आत्मा परमात्मा-रूप है।' यहाँ सारी श्रेणी का उल्लेख हुआ है, न कि किसी खास व्यक्ति का !

(३) किसी एक खास व्यक्ति की अपेक्षा; जैसे 'रामप्रसाद बहुत होशियार है।'

(४) एक पदार्थ के पर्याय की अपेक्षा से—द्रव्य की अपेक्षा को छोड़कर। जैसे 'घर नष्ट कर दिया गया है'—इस वाक्य में यह स्पष्ट है कि घर की सामग्री (material) नष्ट नहीं की गई है—केवल उसकी पर्याय नष्ट हो गयी है !

(५) व्याकरण के भाव में—जहाँ व्याकरण और कोष के नियमों के अनुसार शब्दों का भाव लगाया जाय। उदाहरण के रूप में यह वाक्य लीजिये कि 'सूरज पूर्व में उगता है।' इस में 'सूरज' साधारण भाव में व्यवहृत हुआ है।

(६) अलङ्कार या खास भाव में जैसे—कि 'सूर्य देवताओं में अग्रणी है।' यहाँ 'सूर्य' केवल ज्ञान का चिन्ह है और 'देवता' एक [illegible] त्मा के आत्मिक गुणों के द्योतक हैं।

(७) किसी व्यक्ति के कार्य-विशेष की अपेक्षा ,जैसे इस वाक्य में कि 'क्या मैं डाक्टर को बुलादूँ ?' यहाँ 'डाक्टर' से मतलब उस समुदाय के एक सदस्य से है, जो डाक्टरी करता है। भाव-निक्षेप और इस नय के रूप में यह भेद है कि भाव-निक्षेप में तो 'डाक्टर'-शब्द का व्यवहार नाम-रूप में हुआ है; किन्तु इस नय में वह एक व्यक्ति अथवा एक समुदाय के विवरण-रूप में है।

शब्दों के व्यवहार में उनके खास भावों और अर्थों को इन नयों के सम्बन्ध में भुला देने से बड़ी भद्दी भूलें हो जाती हैं, और जब उनका ठीक-ठीक व्यवहार किये बिना ही नतीजा निकाल लिया जाता है, तो विचार में सख्त दिक्क़त पड़ जाती है। इन नयों के सम्बन्ध में खास प्रकार की भूलों के नमूने हम यहाँ उपस्थित करते हैं :—

(१) पहली नय की यह बड़ी भूल होगी, यदि हम पूर्वोक्त कथन से यह भाव निकाल लें कि सचमुच महावीर-जी ने आज ही मुक्ति पाई है।

(२) दूसरी नय के विषय में इस वाक्य के सम्बन्ध में कि 'आत्मा स्वभाव से परमात्मा-रूप है' यह कहना मिथ्या होगा कि प्रत्येक अमुक्त आत्मा प्रकट रूप में परमात्म-स्वरूप है।

(३) तीसरी नय में एक व्यक्ति को जाति में परिणत कर देना

और एक ही उदाहरण से सर्व-व्यापी नतीजा निकाल लेना भूल होगा !

(४) चौथी नय के सम्बन्ध में यह भुला देना घातक होगा कि वस्तुओं का एक आधार है, और यह मान लेना कि एक घर के नाश होने का मतलब पार्थिव सामग्री का सर्वथा नष्ट होजाना है ।

(५) पाँचवीं नय के विषय में यह न भुला देना चाहिये कि जब शब्दों का व्यवहार साधारण रूप में हुआ हो, तब उनका अलङ्कारिक अर्थ नहीं लगाना चाहिये । 'सूर्य पूर्व में उगता है'—इस सीधे-से वाक्य का गूढ़ार्थ ढूँढ़ना इसी प्रकार की गलती होगी ।

(६) छठी नय अलङ्कार के भाव से सम्बन्ध रखती है । शब्दों को अलंकृत रूप में ग्रहण न करके शब्दार्थ में ले लेना तर्क का गला घोटना होगा । इसी तरह अलङ्कार के रूपक को ऐतिहासिक घटना मानना भयानक होगा । सही तरीक़े से वही सम्यक्-दर्शन का पोषक होगा; अन्यथा नाश की ओर ले दौड़ेगा ।

(७) सातवीं और अंतिम नय के विषय में यह कहना अनुचित होगा कि एक डाक्टर 'हर समय डाक्टर' के सिवाय और कुछ नहीं है ।

जैन-सिद्धान्त में हमें ऐसी गलतियों से पहले ही

आगाह कर दिया गया है, क्योंकि सैद्धान्तिक खोज और सत्य के निर्णय में विचार का ठीक-ठीक निश्चय होना जरूरी है। यदि अन्वेषक अपने कार्य के श्रीगणेश में ही इस चेतावनी का ध्यान न रक्खेगा और अपने को भयावह क्षेत्र में भटकने देगा, तो उसे कुछ भी लाभदायक वस्तु हाथ न लगेगी।

४—अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद वह विचार-क्रम है, जो एकान्त-पक्षीय परिणामों से संतुष्ट नहीं होता। जब तक किसी पदार्थ का सब अपेक्षाओं से अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक उसका ज्ञान अधूरा रहेगा और वह ग़लत रास्ते पर भी ले जा सकेगा।

मुख्यतः पदार्थ का उसके निजी द्रव्य-रूप में जानना जरूरी है; साथ-ही उस पर्याय में भी जिस में कि वह अन्वेषण के लिये मिल रहा है।

५—स्याद्वाद।

मानवी भाषा बड़ी भ्रमोत्पादक हो जायगी, यदि आरम्भ से ही ग़लतफ़हमी को बचाने की कोशिश न की जायगी।

यह कहना कि 'अ' 'ब' है, और 'अ' 'ब' नहीं है, तथापि साथ ही यह भी कहना कि एकदम 'अ' 'ब' है और

'ब' नहीं है, अविज्ञ पाठक को बड़े झमेले में डाल देगा। ज़ाहिरा ये वाक्य एक-दूसरे के विरोधी दिखते हैं; किन्तु वास्तव में विरोधी नहीं भी हो सकते हैं। अब हमें यह देखना चाहिये, इसमें से कोई भाव ग्रहण करना भी संभव है, या नहीं। मान लो 'अ' से मतलब कुचले का है और 'ब' ज़हर का द्योतक है। अब यह अनुमान करलो कि उक्त वाक्य का सारांश इस प्रकार है:—

'कुचला' ज़हर है (जब बड़ी मिक़दार में दिया जाय) (कम मिक़दार में) वह ज़हर नहीं है (दवाइयों मे); और वह एक साथ ही दोनों, अर्थात् ज़हर है और ज़हर नहीं भी है (जब कि मिक़दार की अपेक्षा को ध्यान में न रखा जावे)!

इस तरह पर पढ़ने से विरोध बिल्कुल दूर हो जाता है। और कुचले के स्वभाव के विषय में एक बड़ी उपयोगी बातें मालूम हो जाती है!

जैन-सिद्धान्तवादी 'तीर्थङ्कर' की वाणी के विषय में ज़ाहिरा विरोध को देखकर भटक जाने से हमें आगाह कर देते हैं; क्योंकि वह वाणी वास्तव में न तो विरोध लिये हुए है, और न ग़लत ही है। कचहरियों में झूठे गवाहों के वक्तव्य की तरह कहीं वास्तविक विरोध भी हो सकता है; किन्तु दिव्य-शिक्षक तीर्थङ्कर की वाणी में ऐसा वास्तविक विरोध कभी नहीं होता है। जो ज़ाहिरा उनकी वाणी में

विरोध-सा देखकर उससे मुँह मोड़ लेते हैं, वह सत्य से हाथ धो लेते हैं। उनके लिये एकान्त मन्तव्यों पर विश्वास कर लेना लाजमी हो जाता है, जो भयावह है। उदाहरणतः जो व्यक्ति कुचले को बिल्कुल ही जहर मानने को तैयार नहीं है, वह किसी न किसी रोज अपनी इस बेवकूफी का मोल अपने अमोल प्राणों को गँवाकर चुकायेगा!

मानवी भाषा का मतलब किसी वस्तु के विषय में कुछ कहना है। विरोध की दृष्टि से हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में तीन प्रकार के कथन कर सकते हैं :—

'अ' 'ब' है।

'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

इन तीनों को ही विविध रूप में मिलाने से हमें चार और विरोधात्मक कथन मिलते हैं; अर्थात् :—

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' नहीं है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

'अ' 'ब' है+'अ' 'ब' नहीं है+'अ' एक साथ ही 'ब' है और 'ब' नहीं है।

यही सात रूप 'सप्तभङ्गी' सिद्धान्त है। इनमें से पहले

तीन रूप तो अपने निजी स्वरूप में असंयुक्त हैं। वे और शेष चारों संयुक्त परस्पर-विरोधी हो सकते हैं। और संयुक्त-कथन अपने ही अर्थ में।

जैन-सिद्धान्तवादी ऐसे प्रत्येक कथन के आगे 'स्यात्' शब्द को जोड़ देने की सम्मति देते हैं; जिस से कि बुद्धि, उनके मूल-भाव और अपेक्षा-दृष्टि को सुगमता से पहचान सके। इस दशा में यह कथन यों पढ़े जायेंगे:— स्यात् 'अ' 'ब' है; स्यात् 'अ' 'ब' नहीं है; इत्यादि। इस क्रम से व्यक्ति का ध्यान कथन की उस ख़ास अपेक्षा की ओर स्वतः आकृष्ट हो जायगा, जिस अपेक्षा से वह कहा गया है। यदि तीर्थङ्कर भगवान की वाणी के अध्ययन में यह ध्यान में नहीं रखा जायगा, तो श्रम व्यर्थ और भयानक होगा।

सप्तभङ्गी सिद्धान्त की उत्पत्ति पदार्थों के स्वभाव को सभी सम्भव अपेक्षाओं अथवा दृष्टिकोणों द्वारा ठीक-ठीक खोज की आवश्यकता पर अवलम्बित है। इस क्रम में यह स्वाभाविक है कि ज़ाहिरा दिखावटी परन्तु अवास्तविक-विरोधात्मक कथन किये जाँय। जैन-सिद्धान्त इसी कारण 'स्याद्वाद' कहलाता है कि वह अनेकान्त रूप में पदार्थों का अन्वेषण करता है, और परस्पर विरोध के मेटनेवाले चार्ट (नक़शे)—'अ' 'ब' है और 'अ' 'ब' नहीं है, इत्यादि को अपनाये हुये है।

यह याद रहे कि वास्तविक विरोध के लिये एक पदार्थ का अस्तित्व और निषेध एक ही दृष्टिकोण से होना लाज़मी है। किन्तु स्याद्वाद में यह बात नहीं है—उसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से कथन किया हुआ मिलता है। अतः वह विरोधात्मक नहीं है।

६—न्याय

विविध प्रकार के मनुष्य अपनी पथ-प्रदर्शिता के लिये तीन प्रकार के न्याय-सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। मन्द-बुद्धि के आदमी केवल सम्भव बातों से सन्तुष्ट हो जाते हैं। कचहरी में बैठा हुआ जज सम्भव को अस्वीकार करके अनुमानतः (probable) के माप को मानता है। किन्तु तत्व-वेत्ता इन दोनों को नहीं मानता, वह अटल निश्चय (certain) के आधार पर अपनी इमारत खड़ी करता है। यह अटल निश्चय न्याय द्वारा मिलता है; जो दो प्रकार का है-(१) inductive* (२) deductive* यहाँ हम केवल deductive न्याय से

---

* जिस विद्या द्वारा प्रकृति के नियम निश्चय प्रकार से जाने जाते हैं, उसको inductive logic (इण्डक्टिव लाजिक) कहते हैं। और जब इण्डक्टिव लाजिक द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान की सिद्धि की जावे तो उसे deductive (डिडक्टिव) लाजिक कहते हैं। दूसरे शब्दों में इण्डक्टिव तर्क है, और डिडक्टिव अनुमान।

सम्बन्ध रक्खेंगे। क्योंकि inductive-न्याय के लिये प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। इस प्रकार से हम पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान और प्रकृति में घटित होनेवाली घटनाओं के यथार्थ कारणों को जान सकेंगे।

Deductive-न्याय प्राकृतिक वैज्ञानिक नियमों के आधार पर चलता है। अटल वैज्ञानिक नियमों के बल पर अनुमान सिद्ध किये जाते हैं: जो हर हालत में सत्य ही साबित होते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि deductive—न्याय के पारिभाषिक विषयों से स्मरण-शक्ति के भार को बढ़ाया जाय। एक साधारण नियम इस न्याय की सिद्धि और प्रकृति से मिला रखने के लिये पर्याप्त है। अरस्तू का न्याय इन में अन्तिम ध्येय की पूर्ति नहीं करता। हाँ, उससे पहली बात की पूर्ति हो जाती है। उसका सम्बन्ध कथन में अनुकूलता उपस्थित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसके आधार से निकले हुए परिणाम उपस्थित करने के क़ायदे और अनुकूलता के अनुसार होंगे, किन्तु वास्तव में भी वह सत्य हैं, या नहीं, यह उसके वश की बात नहीं है। सचमुच वे सही होंगे, यदि उनके आधार ठीक-ठीक होंगे, जिन पर परिणाम अवलम्बित हैं। किन्तु अरस्तू के न्याय में उन आधारों की वास्तविक सत्यता की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता

न्याय का एक ही नियम, जिसके ऊपर कोई न्यायवेत्ता अपनी कीर्ति का दाँव लगा सकता है यह है, कि जब कोई स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम मिले, तो उसे अपने अनुमान का आधार बना सकते हैं। ऐसे नियम के होते हुए भी यदि उस से विपरीत निर्णय किया जायगा, तो निस्सन्देह वह परिणाम ग़लत होगा। यदि इस विषय में पक्ष या विपक्ष में कोई नियम न हो और आधार-रहित कोई कथन किया जाय, तो वह कोरा अटकल-पच्चू का दाँव होगा और इसलिये सर्वथा अविश्वसनीय होगा।

उदाहरण के रूप में प्रकृति का यह एक स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम है, कि मनुष्य छोटे पैदा होते हैं और फिर वे बढ़ते हैं। अब यदि कोई यह कहे कि वह हज़ार वर्ष की उम्र का जन्मा था और अब वह दिन-ब-दिन कम उम्र का होता जा रहा है, तो उसका यह कथन प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, और इसलिये असत्य होना चाहिये।

इसी तरह यह बात कोरी अटकल-पच्चू होगी कि अमुक व्यक्ति अपनी उम्र के ५० वें वर्ष में इतना रुपया कमा लेगा; क्योंकि लोगों की आमदनी के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है—कि कितना रुपया वे किसी ख़ास साल या किसी ख़ास उम्र में कमा सकेंगे!

प्राकृतिक नियम का मतलब प्रकृति के नियम, (क़ुदरती क़ानून) अथवा उस नियम से है, जो क़ुदरती नियम की भाँति

माना जाने लगा है, इनका एक दफ़ा भी उल्लंघन नहीं होना चाहिये। उदाहरणतः सप्ताह के दिनों का क्रम मानवी रिवाज का करतब है, और यह क्रम उस समय तक है, जब तक कि मानव-समुदाय एक-मत होकर उसमें रद्दो-बदल न जारी कर दे। बस, इसके आधार पर हम ठीक-ठीक कह सकते हैं कि इतवार के बाद सोमवार होगा! किन्तु इस नियम में कोई छूट या फ़र्क़ होता तो हमारे लिये यह अनुमान संभव न होता। हाँ, उस छूट के दूर करने की कोई ख़ास विधि हो, तो बात दूसरी है। किन्तु इस हालत में नियम का कड़ापन ही पुष्ट प्रमाणित होता है।

यदि उक्त नियम को ध्यान में रक्खा जाय तो न्याय-सिद्धान्त में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों और उनके स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी ग़लती का अंदेशा जाता रहे। जैन-न्याय व्यावहारिक अथवा व्यस्त मनुष्य का न्याय कहा जा सकता है। और उसका पर्याप्त ज्ञान केवल इस अध्याय के पढ़ लेने से प्राप्त हो सकता है।

जब कभी किसी ख़ास कथन की सत्यता और असत्यता का पता लगाना हो, तो यह पूछना एक व्यावहारिक नियम होगा कि क्या यह कथन किसी स्थायी और अपरिवर्तनीय नियम के अनुकूल और उसके आधार पर निर्भर है? यदि उसका आधारभूत ऐसा नियम हो, तो उसे निस्सन्देह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये। इसके विपरीत वह

असत्य होगा अथवा एक मानसिक कल्पना से बढ़कर कुछ न होगा !

विषय-विभाग

मुख्य चार विषय-विभाग है। अर्थात् द्रव्य (substance) क्षेत्र (place) काल (time) और भाव (internal states) इनका पूर्ण रूप निम्न प्रकार है :—

द्रव्य स्वतः अपना द्रव्य (निजी) हो सकता है, अथवा पर-पदार्थ, जो अपने सम्बन्ध में आया हुआ है, और इसमें गुण व रूप (पर्याय) सम्मिलित होंगे, क्योंकि इनके सिवा किसी द्रव्य का होना ही असंभव है।

क्षेत्र से मतलब स्थान, स्थान के घेरने का परिमाण और स्थान में स्थिति से है।

काल समय है, अथवा व्यक्ति की बाहरी पर्याय-सत्ता का बाह्य रूप; जैसे एक अस्थिर अथवा स्थिर पदार्थ।
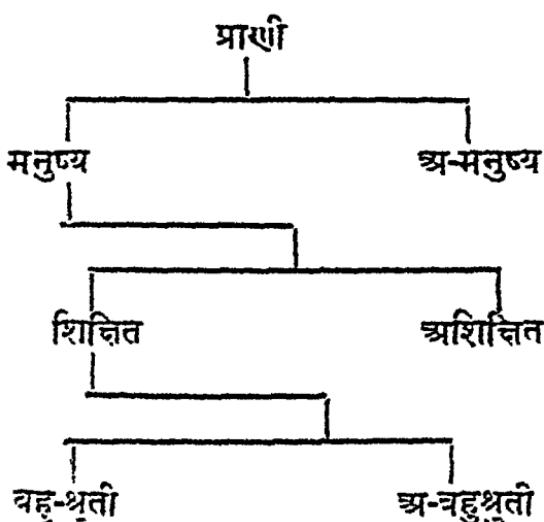
भाव आन्तरिक भाव व दशा हैं। दूसरों से क्या नाता है? यदा सर्व-प्रिय है, या नहीं।

यदि हम इन्हें सिर्फ दो भागों (१) द्रव्य और (२) गुण में ही घटा दें, जैसे कि कभी-कभी अरस्तू किया करता था, तो पर्याय और गुण, द्रव्य और स्थान आदि कोठों में घपला होजाने का डर रहेगा। यदि हम इन्हें बढ़ाने की चेष्टा करें तो भी कुछ मतलब न सधेगा; क्योंकि एक पदार्थ

के विपय में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह उपरोक्त चार विषय-विभागों में अच्छी तरह आजाता है।

८ -विभाग

विभाग वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक हो सकता है। वैज्ञानिक विभाग में विपय बराबर बाँट दिया जाता है और कुछ भी शेष नहीं बचता। अवैज्ञानिक विभाग में यह बात नहीं है; वहाँ विपय खतम नहीं होता। उदाहरण के रूप में ले लीजिये कि प्राणियों को मनुष्य, घोड़ा, बन्दर और चूहों में बाँटना ठीक विभाग नहीं है; क्योंकि इस विभाग से उक्त श्रेणी (प्राणियों) का खातमा नहीं हुआ। उसके विभाग का ठीक तरीक़ा इस प्रकार है :—

इस प्रकार से विभाग बिना किसी गड़बड़ी के डर के किया जा सकता है ।

भाग २–(अ) तत्व–ज्ञान।

लोक दो भिन्न द्रव्यों—चेतन और अचेतन—का बना हुआ है। अचेतन द्रव्य में घट न बढ़ पाँच विभिन्न द्रव्य गर्भित हैं। ये हैं:—आकाश, काल, धर्म, अधर्म और पुद्गल। चेतन द्रव्य का वर्णन हम आगे आत्म-विज्ञान के प्रकरण में करेंगे। शेष द्रव्यों को इस प्रकार समझिये।

आकाश एक द्रव्य है, जो शून्य स्थान (Vacuum) के रूप का है; यद्यपि वह बिल्कुल शून्य स्थान ही नहीं है। वह एक फैला हुआ और छिद्र-रहित शून्य स्थान (vacuum) है। केवल शून्यता के रूप में वह अस्तित्व-रहित और बिना फैला हुआ होगा; क्योंकि जो सत्ताहीन है, उसमें एक भी गुण नहीं मिल सकता। अतः आकाश का, ज ` फैलाव को धारण किये हुए है, स्वतः एक द्रव्य होना लाज़मी है।

काल को हम दो भिन्न रूपों में जानते हैं। पहले तो वह समय के माप की हैसियत में घण्टों, दिनों, आदि के रूप में मिलता है। दूसरे वह पदार्थों के परिवर्तन में कारण-रूप दिखाई पड़ता है। प्रकृति में कोई वस्तु भी बिना बरतने के नहीं रह सकती। असंयुक्त पदार्थों में यह बरतना उनकी शक्ति की हीनाधिकता (तबदीली) से होता है। यदि कोई काल-द्रव्य इस शक्ति की तबदीली में सहायक होने के लिये न हो तो पदार्थ अपनी एक-सी हालत में ही सदा-सर्वदा बने रहें। उदाहरण के लिये हमारा चेतना-उपयोग अपने को बार-बार जानता है; सारे जीवन में केवल एक दफ़ा ही नहीं। अब यह जानकारी का भाव जो रूप ग्रहण करता है, वह सामयिक तेजी होती है। स्व-उपयोग एक समय में तीव्र होता है; फिर वह मन्द हो जाता है, परन्तु नष्ट होने के पहले ही वह फिर तीव्र हो जाता है। किन्तु स्व-उपयोग के भाव की यह तीव्रता और मन्दता बिना किसी सहयोगी कारण के नहीं हो सकती है। बस, वह कारण ही काल है; अर्थात् वह एक द्रव्य है जो काल कहलाता है; क्योंकि वह मापवाले काल (समय) का निकास है। यह काल आकाश के प्रत्येक अणु पर घूमती हुई सलाइयों (pins) के रूप में मिलता है और उपरोक्त प्रकार पदार्थों के बरतने में सहायक हैं। यदि काल द्रव्य न हो तो अनुगमन-क्रिया भी कोई न हो, और फिर व्यावहारिक काल

—घण्टा-घड़ी—भी अज्ञात हो जाय !

धर्म और अधर्म-द्रव्यों (ethers) में पहला तो गति का सहायक-कारण है और दूसरा पदार्थों के स्थिर होने में सहायता प्रदान करता है।*

पदार्थ जब स्थिर होते हैं तो वह एक-दूसरे के सहारे नहीं ठहरते; बल्कि उनके मध्य में एक सूक्ष्म ether (अधर्म द्रव्य) की गद्दी मौजूद होती है।

पुद्गल के वर्णन् करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है। वह दृष्टव्य गुणों से संयुक्त है, अर्थात् वर्ण (लाल, काला, नीला, पीला, और सफ़ेद), रस (कडुवा, खट्टा, चर्परा, कषैला और मीठा), गंध (सुगंध, दुर्गंध), स्पर्श (कठोर, नरम, खुरखुरा, चिकना, गर्म, ठंडा, हल्का और भारी) और शब्द, जो पौद्गलिक पदार्थों के संघर्ष से उत्पन्न होता है—ये उसमें मिलते हैं।

द्रव्य अनादि हैं और वे बनाये-बिगाड़े नहीं जा सकते। एक अन्य दृष्टि से वे केवल असंख्य गुणों की समुदाय ही है; क्योंकि गुणों का द्रव्यों में होना स्वाभाविक है और वे द्रव्यों से अलग स्वाधीन रूप में नहीं रह सकते। यदि गुण

---

* आधुनिक विज्ञान को यह स्वीकृत है, कि गति ether द्वारा होती है, और यह भी कि दो पदार्थ कभी एक दूसरे को वास्तव में नहीं छू पाते; उनके बीच में ether रहता है।

स्वतः पृथक् रह सकें, तो गुण का अस्तित्व भी स्वतः अलग रह सकेगा ! किन्तु इस दशा में वह रूप-रंग-रहित होगा और अवशेष पदार्थ अपने व्यक्तित्व से हाथ धो बैठेंगे; क्योंकि वे अस्तित्व से अलग हो जावेंगे। अतः इनमें से कोई भी, निर्णय बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती।

गुण अप्रकट अथवा दबे हुए बने रहें या बन जावें, किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता और न वह द्रव्य से अलग किये जा सकते हैं।

लोक का काल-क्रम में कभी प्रारंभ नहीं हुआ; क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्यों का अभाव अथवा उनके कर्तव्य की निष्प्रयोजनता माननी पड़ेगी, जो कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण कि प्रकृति में रहना, केवल कर्तव्य करना है। प्रत्येक द्रव्य अपने कर्तव्य में ही अपनी खास सत्ता रखता है और इसी अपेक्षा में वह अन्य पदार्थों से भिन्न ठहरता है। यदि किसी द्रव्य का स्वाभाविक कर्तव्य छीन लिया जाय, तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जायगा ! यह मानना कि पदार्थ अपने कर्तव्य से अलग रह सकते हैं, केवल यही अर्थ रखता है कि वे एक ही समय में हैं भी, और नहीं भी हैं; क्योंकि कर्तव्य करना एक खास प्रकार से अस्तित्व रखना ही है, और अस्तित्व में रहना केवल स्वाभाविक कर्तव्य का करना है।

आत्म-विज्ञान

१—आत्मा।

जानना-देखना एक अखण्ड (simple) द्रव्य का काम (कर्तव्य) है। वह संयुक्त पदार्थों द्वारा नहीं हो सकता है।

जानने-देखने की प्रत्येक क्रिया एक मानसिक ऐक्य (अखंड-भाव) है—एक अविभक्त दर्शन या ज्ञान है। यह क्रिया कोई छाया नहीं है; जैसे किसी पदार्थ की छाया दर्पण में पड़ती है। छाया अंशों की बनी होती है और यह एक शुद्ध ऐक्य-रूप—एक अविभक्त दर्शन-ज्ञान—है। यदि यह क्रिया किसी संयुक्त पदार्थ की सतह पर छाया पड़ने की तरह होती, तो उस संयुक्त सतह के किसी भी भाग में पूरा अक्स नहीं पड़ सकता; क्योंकि उसके विविध अंश उस संयुक्त सतह के विविध भागों में पाये जाते हैं। इस तरह उस संयुक्त सतह का प्रत्येक भाग उस अंश को ही जानेगा—अधिक को नहीं—जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ है। उस सतह के किसी भी भाग में संपूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है, और उस पर वह कहीं नहीं जाना जा सकता!

अतएव मानना पड़ेगा कि जानने-देखने की क्रिया का आधार एक संयुक्त पदार्थ है, जिसके अविभक्त होने के कारण

समग्र उत्तेजना एक भागहीन वस्तु पर अपना प्रभाव डाल सकती है और एकदम जानी जा सकती है ।

अनुमान (न्याय) का आधार भी एक अविभक्त पदार्थ होना चाहिये । यदि पक्ष और उसको पुष्ट करनेवाली पंक्तियाँ विस्तृत संयुक्त पदार्थ पर फैला दी जायँ, तो मानसिक ऐक्य (synthesis) कभी प्राप्त न होगा ! पक्ष आदि के वाक्यों से तार्किक परिणाम उस अवस्था में ही निकल सकता है, जब कि मन खुद अखण्ड और असंयुक्त हो; और उनको और उनके उद्देश्य को ग्रहण करे । यदि एक पक्ष के विषय (contents) एक संयुक्त व्यक्ति के विविध भागों पर बाँट दिये जायें, तो कोई भी भाग संपूर्ण मानसिक-ऐक्य को नहीं पा सकेगा और तब कोई परिणाम निकाल लेना असम्भव होगा । अतएव हमारी तज्ञानता, जो सचमुच एक नैयायिक परिणाम निकाल लेती है, इस तरह पर एक असंयुक्त द्रव्य अथवा एक असंयुक्त द्रव्य का कार्य होनी चाहिये ।

वह मन जो भलाई, प्रेम और सत्य-जैसे सामान्य भावों को जान लेता है, इसी प्रकार एक अविभक्त पदार्थ होना चाहिये; क्योंकि सामान्य भाव टुकड़ों में नहीं तोड़े जा सकते अथवा विस्तृत संयुक्त सतह पर नहीं फैलाये जा सकते !

असंयुक्त द्रव्य न अभाव में से बनाये जा सकते हैं और न वे विभिन्न अंशों के मिलाने से उत्पन्न किये जा सकते हैं ।

उनमें कोई भाग अथवा अलग किये जानेवाले तत्व नहीं हैं और न वे नष्ट अथवा टुकड़े-टुकड़े ही किये जा सकते हैं।

अब जो पदार्थ न तो बनाया जा सकता है, और न नष्ट ही किया जा सकता है, वह अनादि होना चाहिये ! अतः चेतना एक नित्य सत्ता है।

बग़ैर द्रव्य के आधार के कोई मौजूद पदार्थ भी सत्ता-युक्त नहीं रह सकता है। और न वह गुणों का निवास ही हो सकता है। मन (चेतना) भी इस कारण से एक द्रव्य होना चाहिये।

पुराने ज़माने के लोगों ने 'आत्मा'-शब्द का प्रयोग अपने उस ज्ञानवान् द्रव्य की मान्यता को व्यक्त करने के लिये किया था, जो अविभक्त एवं अविनाशी और इसलिये अमर है। यह शब्द ठीक और उचित है। और इसे स्वीकार कर लेना भी ठीक है; क्योंकि जनता में इसका विशेष प्रचार हो गया है। अन्य भाषाओं में इस के लिये अन्य उपयुक्त शब्द भी मिलते हैं, जैसे रूह, जीव, सोल (soul) इत्यादि।

इन्द्रिय-दर्शन एक आन्तरिक भाव (affection) है। वह इन्द्रिय-उत्तेजना (stimulus) से नहीं बनता है। उत्तेजना (stimulus) पौद्गलिक है, किन्तु दर्शन पौद्गलिक नहीं है। काग़ज़, जिस पर यह पुस्तक छपी हुई है, रङ्ग में सफ़ेद है, और कई इञ्च लम्बा-चौड़ा है; किन्तु मन में इसका ज्ञान रङ्ग

और नाप से शून्य है। वह एक अविभक्त इन्द्रिय-ज्ञान (sensation) है। दर्शन (चेतना) की किसी भी दशा में वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द-जैसे पौद्गलिक गुण कभी नहीं मिलते हैं।

अतएव कहना होगा कि चेतना में वह गुण नहीं हैं, जो पुद्गल में मिलते हैं और वह पुद्गल से एक भिन्न द्रव्य है।

रङ्ग, शब्द-आदि मूर्तिक उत्तेजना को ही इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं। वे अमूर्तिक वस्तुओं को नहीं जान सकतीं। मन या चेतना में मूर्तिक गुण (sensible qualities) नहीं हैं। वह और इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतएव आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।

२—ज्ञान का स्वरूप।

दर्शन उस उत्तेजना (stimulus) से भिन्न है, जो उस का उदय कराती है। उत्तेजना स्वभाव से पौद्गलिक है; किन्तु दर्शन आत्मा की सज्ञानता है। दर्शन उत्तेजना-द्वारा केवल जागृत होता है। वह उसके द्वारा बनाया अथवा उत्पन्न नहीं किया जाता! इसके अतिरिक्त सज्ञानता एकत्वमय (unitary) है, और उत्तेजना नहीं है। वह तो स्वभावतः संयुक्त है। कोई असंयुक्त पदार्थ बनाया या उत्पन्न नहीं किया जा सकता; वह अपने आप अस्तित्व में है। यह बात चेतना की एक साधारण दशा अर्थात् एक मानसिक संकल्प या

ख़याल के लिये भी, जो अविभक्त है, ठीक-ठीक लागू होती है।

इस भाव में सब प्रकार के दर्शन, ज्ञान और विचार बिना-बनाये और अकृत्रिम रूप से मन में रहते हैं। वे वैसे ही अविनाशी हैं, जैसे कि आत्म-द्रव्य—जिसमें वे रहते हैं।

ये विचार उच्छृङ्खल वस्तुयें नहीं हैं, जो किसी तरह असंयुक्त द्रव्य—आत्मा में जा घुसे हों। वे एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, और ऐक्य-रूप को धारण किये हुए हैं। इस बड़े ज्ञान के अखण्डित भाग समय-समय पर दृष्टि पड़ जाते हैं—जो दृष्टि नहीं पड़ते, वे अप्रकट रहते हैं।

दर्शन की क्रिया—बल्कि उस की मशीन—तीन भागों से सम्बद्ध है। अर्थात् (१) इन्द्रियें, (२) उत्तेजना ले जानेवाली नाड़ियाँ और दर्शन-केन्द्र, और (३) वैयक्तिक चेतना का 'उत्तर'। पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुई उत्तेजना को इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं; फिर उत्तेजना कम्पित क्रिया रूप (vibratory motion) में ऐन्द्रियक नाड़ियों द्वारा अन्दर को जाती है, और अनुभव तब होता है कि जब चेतना अपने निजी ज्ञान के द्वारा बाहरी उत्तेजना की ओर लक्षित होती है; अर्थात् जब वह उसके जवाब में अपने भीतरी ज्ञान को उपस्थित करती है।

उत्तेजना को लेजानेवाली नाड़ियाँ उत्तेजित क्रिया को स्वयं अनुभव नहीं करतीं, जिसको वे चेतना तक ले जाती हैं। यदि वे ऐसा करें, तो मार्ग में ही हमें वस्तु का ज्ञान

होना चाहिये। यदि इन नाड़ियों के छोटे-छोटे भाग (cells, चेतना-मय सूक्ष्म जीवित प्राणी हों, तो वे भी उत्तेजना को अपने मन के विकास के अनुसार किसी हद तक 'देख' और समझ लेंगे, जो उनके ऊपर से गुजर रही है। किन्तु जो कुछ इनमें से प्रत्येक सूक्ष्म प्राणी देखेगा, वह उसे अपने पड़ोसी को नहीं बता सकेगा; क्योंकि जानना-देखना लेने-देने योग्य (alienable) पदार्थ नहीं हैं।

३—सर्वज्ञता !

वह एकता-रूपी महान् ज्ञान (Idea), जो आत्म-द्रव्य का लक्षण है, वह अपने विषय (contents) में अनन्त है। वह प्रत्येक समय और स्थान की प्रत्येक वस्तु को प्रकट कर सकता है। यह इस कारण है कि वस्तुयें बाहरी उत्तेजना के परिणाम-रूप चेतना के कर्मशील होने पर जानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त जब कि आत्मा एक द्रव्य है और जब कि द्रव्यों के लक्षण और गुण प्रत्येक पदार्थ में एक-से रहते हैं, तब प्रत्येक आत्मा में एक-समान ज्ञान का होना जरूरी है। इस लिये जो बात एक आत्मा जानेगा, उसे सब आत्मायें जान सकेंगी। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक आत्मा में वह सब जानने की शक्ति है, जिसे एक या सब आत्माओं ने गत काल में जाना हो और जिसे आज कोई जानता हो अथवा भविष्य में जानेगा। सारांशतः प्रत्येक

आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान का अधिकारी है, जो समय और स्थान द्वारा सीमित नहीं है। साफ़ शब्दों में, प्रत्येक आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है।

जो चेतना द्वारा कभी न जाना जाय व असत्तामय है। कारण कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जिसका अस्तित्व प्रमाणित न हो, वह मान्य नहीं हो सकता। और जिसे कोई कभी जान ही नहीं सकेगा, उसका अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं हो सकेगा। अतएव प्रत्येक पदार्थ आत्मा द्वारा जाना जा सकता है।

इसलिये कहना होगा कि आत्मा का अनन्त ज्ञान भूत-भविष्यत-वर्तमान तीनों कालों की, और सब स्थानों की प्रत्येक वस्तु को—जो प्रकृति में कभी उपस्थित रही हो, जो इस वक्त रहती हो अथवा जो भविष्य में रहेगी—जानने की शक्ति रखता है।

४–आत्मा एक सचेतन द्रव्य है।

आत्मा अपने अनन्त, सर्वव्यापक और सर्वदर्शी ज्ञान (Idea)से भिन्न या अलग नहीं है। यदि वह उससे पृथक् होता, तो ज्ञान उसमें उसी तरह रहता, जिस तरह आदमी मकान में रहता है। किन्तु आत्मा के भीतर कोई ऐसा शून्य स्थान नहीं है कि वह वहाँ ज्ञान को भाड़ेतू के रूप रख सके।

इसके अतिरिक्त, इस मान्यता के अनुसार, ज्ञान आत्मा

की सज्ञानता की एक दशा न होकर एक बाहरी पदार्थ हो जाता है और वह अन्य पदार्थों की तरह बाहरी उत्तेजक क्रिया से ही जाना जा सकता है; किन्तु ज्ञान से ऐन्द्रियक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह स्वभावतः अमूर्तिक है।

अतएव हमें मानना होगा कि ज्ञान और आत्मा—दोनों शब्द एक ही द्रव्य के दो नाम हैं। ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है! इसलिये आत्मा स्वभावतः एक सचेतन द्रव्य है।

प्रत्येक जीवित प्राणी में दो प्रकार का उपयोग है; (१) दर्शन-रूपी (मतिज्ञान) और (२) समझ (श्रुतिज्ञान) अर्थात् जो कुछ देखा जाय उसका भाव या मूल्य समझ लेना; जैसे कि नारङ्गी को पदार्थ-रूप देखना और यह जानना कि वह एक खाने की वस्तु है। दूसरे प्रकार के उपयोग में शब्दों के भाव का जानना भी गर्भित है। किन्तु इस प्रकार के उपयोग (शब्दों के रहस्य) का अनुभव उच्च गति के प्राणियों को ही होता है। हाँ, जीवित प्राणियों की कोई भी ऐसी गति नहीं है, जो किसी भी सूक्ष्म अंश में इन दोनों प्रकार के ज्ञान को न रखती हो; क्योंकि यह बात तो नीचतम गति के प्राणी भी जानते हैं कि भोजन क्या है, और क्या नहीं है, यद्यपि उनका यह ज्ञान केवल संज्ञा-रूप (विचार-शून्य) होता है!

५—ज्ञानावरणी पर्दा ।

आत्मा का निजी अनन्त ज्ञान किसी प्रकार के आवरण से अवश्य ढका हुआ है, अन्यथा वह अपने पूर्णत्व में प्रकट होता। इसी आवरण को ज्ञानावरण कहते हैं; और इसका भाव ज्ञान पर पड़े हुए आवरण से है। यदि यह ज्ञान को ढकनेवाला पर्दा न हो तो चेतना विना बाहरी उत्तेजना के ही अपने ज्ञान को प्रकट कर सके।

ज्ञान का आवरण द्रव्यात्मक है और सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य का बना हुआ है। वह सब आत्माओं में मोटाई की अपेक्षा एक समान नहीं है। किसी प्राणी के एक इन्द्रिय ही है। उनके अन्दर आवरण इतना मोटा है कि वह अन्य चार इन्द्रियों की शक्ति को व्यक्त नहीं होने देता। किन्हीं के स्पर्शन और रसना-इन्द्रियाँ हैं—इन्हें शेष तीन इन्द्रियों की कमी है; और इसी तरह अवशेष भी समझ लीजिये।

मनुष्य में ज्ञान के आवरण के पतला होने के साथ-साथ विचार की एक ख़ास 'इन्द्रिय' भी प्रकट हो जाती है। किन्हीं पञ्चेन्द्रिय पशुओं, जैसे घोड़ा, बन्दर, कुत्ता आदि, में भी यह मन-इन्द्रिय प्रकट होती है; परन्तु मनुष्य के मुक़ाबिले में वह कमज़ोर होती है। इसके अतिरिक्त पहुँचे हुये साधुओं के सम्बन्ध में यह ज्ञान को रोकनेवाला आवरण और भी हल्का हो जाता है। तब वह अवधि और मनः-पर्यय-ज्ञान

का आनन्द अनुभव करते हैं। और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट कर दिया जाता है, तो आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है; अर्थात् सर्वदर्शी और सर्व-ज्ञाता!

६—भावना (इच्छा-शक्ति)।

इच्छा के आधीन जो क्रिया-शक्ति है वह will (वासना, भावना) है। इच्छाओं का समूह ही भावना है। स्वयं इच्छायें मानसिक अभिलाषायें अथवा मानसिक माँगें हैं, जो पूरी होना चाहती हैं। मन के केन्द्रीय दफ़्तर में आत्मा भावना-रूप में प्रकट होता है। अपने उद्देश्य के कारण मानसिक उद्गारों में भेद होता है; क्योंकि प्रत्येक उद्गार किसी खास कार्य को लक्ष्य रखता है। यह उद्देश्य चेतना की दशा के रूप में रहते हैं, जो चक्षु अथवा अचक्षु-दर्शन से सम्बन्धित होते हैं।

मानसिक इच्छाओं (वासनाओं) में से जो बहुत तेज होती हैं, उन्हीं के अनुसार एक खास समय में व्यक्ति के कार्य और विचार करने की रूप-रेखा बनती है। कमज़ोर वासनायें मौन रहती हैं—उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि अपना प्रभाव दिखा सकें। किन्तु स्वभाव में वह भी ज्वाला-मुखी से कम नहीं हैं, और उनका उचित कारण पाकर क्रिया रूप में पलट जाना सम्भव है। भोग-अभिलाषा की जैसी

भावना होती है उसी अनुरूप इच्छित मार्ग भी विचार के समय निश्चित हो जाता है।

किसी व्यक्ति की तबियत (मिज़ाज) अथवा स्वभाव उसकी इच्छाओं के समुदाय के सिवाय और कुछ नहीं है। यदि इच्छायें मन्द और अल्प संख्या में होंगी तो स्वभाव उत्तम दर्जे का होगा और इसके विपरीत निम्न कोटि का होगा। स्वभाव का किसी खास मामले में क्रिया-रूप होना चरित्र है। सम्भव है, क्रिया साधारण स्वभाव के अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो। यदि कोई मन्द इच्छा एकदम भड़क उठे और व्यक्ति उस पर अधिकार न कर सके, तो उसका वह चरित्र वस्तुतः उसके साधारण स्वभाव के अनुकूल न होगा। अन्य दशाओं में चरित्र का व्यक्ति के साधारण स्वभाव के अनुकूल होना सुसंगत है।

७-कषाय।

जब इच्छायें तीव्रता से क्रियाशील होती हैं, तब वे कषायों अर्थात् तीव्र मानसिक भावों में बदल जाती हैं। किसी वस्तु को पाने की तीव्र लालसा ही लालच है। किसी पदार्थ के भोगने या पाने में विरोध को पाकर जो रोष प्रकट होता है, वही क्रोध है। इच्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिये दाँव-पेच से कार्य लेना ही माया है ! इच्छित पदार्थों की प्राप्ति से जो उत्कट आत्म-श्लाघा प्रकट होती है, वह मान है।

कषाय चार प्रकार के तीव्र रूप को धारण कर सकते हैं। इन्हें मन्द, तीव्र, परास्त कर देनेवाले और अनिवारणीय कहा जा सकता है। तीव्रतम दशा के अनिवारणीय कषाय ही सब से निकृष्ट कोटि के हैं। जो प्राणी इनके प्रभाव में होगा, वह किसी चीज से नहीं रुकेगा और उसका व्यवहार पागलों-जैसा होगा। वह अपने-चाहे दूसरे को मार भी डालेगा।

कषायों के बहुत-से भेद हैं; परन्तु वे सब मुख्य चार के ही अन्दर गर्भित हैं।

सब प्रकार के कषाय क्रम-बद्ध मन की एकाग्रता और बुद्धि के कार्य में बाधक होते हैं। यह इस कारण से, कि कषाय इच्छा के उत्तेजक-रूप हैं, अर्थात् मानसिक कामना या आन्दोलन (या स्फुरण) है। जो मनुष्य या पशु किसी पदार्थ पर अधिकार करना चाहेगा; उसके लिये उस पदार्थ का रूप मन में तूफ़ान मचा देनेवाला होगा। जिसके हृदय में ऐसी कोई इच्छा नहीं होगी तो उस पदार्थ के होने हुए भी वह किसी तरह प्रभावित (बेचैन) न होगा।

इच्छा आत्मा से अलग कोई पदार्थ नहीं है। किसी पदार्थ पर अधिकार करने की लालसा से प्रेरित हुई आत्मा अर्थात् तीव्र उत्कण्ठा से व्यग्र आत्मा ही स्वतः इच्छा का वास्तविक रूप है। ठीक यही बात कषायों के लिये लागू है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी आत्मा से कहीं अलग नहीं हैं। वे तड़पती हुई आत्मा के विभिन्न रूप अथवा दशायें-मात्र हैं।

८—बुद्धि ।

भावना की भाँति बुद्धि भी आत्मा की एक शक्ल (रूपान्तर) है । भावना तो इच्छा-शक्ति है और बुद्धि विचार करने का बल है । ये दोनों रूप अलग-अलग नहीं हैं, और न किसी तरह अलग-अलग किये ही जा सकते हैं । भावना-शक्ति स्वयं तर्क-रूप में कार्य करने लगती है, जब कि वह विचार करने की गम्भीरता पा लेती है । गम्भीर विचारक को जब भयानक कषाय आ घेरते हैं, तब बुद्धि तुरन्त बेकार हो जाती है । यदि आत्मा की शान्ति को भङ्ग करने के लिये इच्छायें न हों, तो वह सर्वज्ञाता हो जाय ! और जब उसमें इच्छायें मन्दतर रूप में होती है तब वह गम्भीर विचारक और विवेकी होता है । किन्तु जब वह तीव्र कषायों के आधीन होजाता है, तो उसे निर्दयी बनते और अविचारी कार्य करते देर नहीं लगती—वह स्वयं मरने और दूसरे के मारने की परवा नहीं करता ।

बुद्धि उस समय भी ठीक-ठीक कार्य नहीं कर पाती, जब उसमें पक्षपात का विष प्रवेश कर लेता है । तथापि पक्षपात के पागलपन की शक्ल में पलट जाने पर वह निःशेष हो जाती है ।

अतः वह पाँच प्रकार की शक्तियाँ जो बुद्धि के ठीक-ठीक कार्य करने में बाधक हैं, चार प्रकार के कषाय और पाँचवाँ निःकृष्ट दशा का पक्षपात हैं । जब तक इन पर अधिकार

नहीं जमाया जायगा, तब तक गम्भीर विचार कर सकना सम्भव नहीं है।

६—ध्यान (उपयोग)।

सचेतन खोज का साधन ध्यान है, और वह दर्शन और ज्ञान-क्रिया को सिलसिलेवार (क्रम से) होने देता है अर्थात् वह उनकी सम्पूर्णता को रोकता है। जब तक कि पदार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया जायगा मन उसे जान न सकेगा। मुँह में रक्खी हुई चीज़ (जैसे मिठाई) का स्वाद भी उस समय तक मालूम न होगा जब तक मन उसकी ओर न पहुँच जायगा।

बस, ध्यान का कार्य उत्तेजना को पदार्थ से आत्मा तक पहुँचाना है। यदि उत्तेजना को आत्मा तक नहीं पहुँचने दिया जायगा, तो वह चेतना को क्रियाशील नहीं कर सकेगी, और एवं ज्ञान को जगाने में असफल रहेगी।

ध्यान आसक्ति का द्योतक है। हम उसी ओर ध्यान देते हैं, जिस ओर हम आसक्त होते हैं। भावना की इच्छाओं में से जो मुख्य होंगी, वे अपनी चाह की चीज़ों से तृप्त होने को हर समय तैयार रहेंगी। दूसरे शब्दों में कहें—वे अपनी तृप्ति के लिये प्रतिक्षण बद्ध-परिकर होंगी। इसी का नाम ध्यान है। वे अन्य इच्छाओं को पीछे ढकेलकर स्वयं आगे आ जमती हैं, और थोड़ी देर के लिये उन्हें दबा

देती हैं। अब यदि यह ध्यान इतना ढीला न कर दिया जाय कि और पदार्थों की उत्तेजना को आत्मा तक पहुँचा सके, तो उनके निकटतम (जैसे जबान पर रखी हुई मिठाई) होने पर भी वह उनको जान न सकेगा।

ध्यान उन वस्तुओं को चेतना के घने उजाले में ले आता है, जिन पर वह केन्द्रीभूत किया जाता है फिर वह अपने समूचे गत-अनुभव की विस्तृत राशि को उनके सम्मुख ला उपस्थित करता है, ताकि उनके स्वरूप को जान सके।

आत्मा से पृथक् रूप में ध्यान कोई वास्तविक और अलहदा वस्तु नहीं है। वह तो एक ख़ास रूप से कार्य में व्यस्त आत्मा ही है।

पहले-पहल ध्यान अनायास ही एक वस्तु की ओर आकृष्ट होता है। वह उस रोशनी के किरण-समूह (धारा) की तरह है, जो प्रत्येक दिशा में हर क्षण घूमती रहती है; जब तक कि वह किसी ऐसे पदार्थ पर न जा अटके जो मनोरञ्जक हो। पहले साधारण रूप-रेखा अर्थात् पदार्थ के सामान्य गुण ही दृष्टि पड़ते हैं। किसी खेत में पहुँचने पर आप पहले घास को ही देखेंगे और यह नहीं जानेंगे कि वह किस प्रकार की घास है? उपरान्त यदि आपको उसमें मनोरञ्जन होगा तो आपका ध्यान उस पर ठहर जायगा और फिर एक-एक करके वह उसकी सब बातें जान लेगा।

यह इसलिये है कि पहले बाहरी दुनियाँ में इच्छाओं की पूर्ति के ढूँढ़नेवाले मानसिक भावों के द्वारा ही ज्ञान होता है।

भावनायें इच्छाओं के सिवाय और कुछ नहीं हैं, जो एक दूसरे से शक्ति में इतनी भिन्नता नहीं रखतीं जितनी कि स्वरूप में। भूख की इच्छा प्यास की इच्छा से एक भिन्न प्रकार की वस्तु होना ही चाहिये। नारंगी खाने की चाह केले की भावना जैसी नहीं हो सकती। अतः इच्छायें मानसिक स्फुरण के भिन्न-भिन्न स्वर हैं, जो विविध वस्तुओं के सामान्य रूपों के द्योतक हैं।

चक्षु अथवा अचक्षु-दर्शन-सम्बन्धी सामान्य भाव स्वभावतः एक अविभक्त इन्द्रिय-ज्ञान के मूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह मूर्त्ति नहीं हो सकते; क्योंकि इस दशा में वह विशेष रूप को धारण कर लेंगे। अचक्षु-दर्शन-सम्बन्धी सामान्य भाव भी विशेष रूप को ग्रहण नहीं कर सकता। आमरस का सामान्य भाव वही वस्तु नहीं हो सकता जो कि एक खास आम के रस का भाव होगा, बल्कि वह एक मूर्त्तिक ज्ञान या दर्शन का भाग या अंश नहीं है। कारण कि किसी भी प्रकार का इन्द्रिय-दर्शन टुकड़ों या अंशों में नहीं बाँटा जा सकता, और न कोई ज्ञान एक से अधिक हिस्सों का संयुक्त पदार्थ ही है।

इस तरह पर एक पदार्थ की इच्छा (मान लीजिये

नारङ्गी की इच्छा) एक खास प्रकार की मानसिक उथल-पुथल है जो नारङ्गी के सामान्य ज्ञान के अनुरूप है। अर्थात् उसमें नारङ्गी—विषयक इतना ज्ञान होगा, जो सब नारंगियों से लागू हो। दूसरे शब्दों में कहें तो वह एक प्रकार का भाव (sensation) है, जो नारङ्गियों की ज़ात के कुल व्यक्तिय से समानता और सम्बन्ध रखता है। किन्तु जो नारङ्गी की ज़ात के बाहर किसी दूसरे पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है।

सामान्य ज्ञान का स्वरूप अब और भी स्पष्टता से कहा जा सकता है । द्रव्य के आधार के रूप में वह आत्मा की ही एक अविभाजनीय अपेक्षा है; ज्ञान के रूप में उसके अंश आगे नहीं ढूँढे जा सकते हैं; वह इन्द्रियों के परे हैं । वह मन-द्वारा समझा जाता है—देखा नहीं जाता है । क्रियाशील वासना की प्रेरक शक्ति की हैसियत से वह इन्द्रिय-दर्शन का मानसिक जोड़ है, क्योंकि वह आत्मा और पुद्गल के मिलाप के कारण उत्पन्न होता है, और साधारण तौर से वह एक प्रकार की शक्ति है, जो और वैसी ही शक्तियों से तेज़ी-रफ़्तार और (ताल) मांप की अपेक्षा भिन्नता रखती है । किन्तु वह केवल प्राकृतिक बल नहीं हो सकता है, क्योंकि वह चैतन्य आत्म-द्रव्य का भाव है।

जब कि सामान्य मानसिक तड़पन की, जिसे इच्छा कहो

चाहे वासना, एक ऐसी वस्तु से मुठभेड़ होती है, जो अपने में से वैसे ही आन्दोलन की लहरें उत्पन्न करती है, तो उसे एक प्रकार के धक्के या स्फुरण का सा अनुभव होता है, जो कि दर्शन (perception) का पहला कार्य है, अथवा दर्शन के प्रयोग में पहली पादुका है। इस अवस्था में ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है, बल्कि अनुभव की तरह की वस्तु होता है। अर्थात् वह एक दर्शन-सम्बन्धी भावना है—स्पष्ट ज्ञान नहीं। इसके बाद ध्यान का कार्य प्रारम्भ होता है; वह अपनी आन्तरिक चेतना-शक्ति के द्वारा वस्तु के स्वरूप को जान लेता है। इसका परिणाम ठीक-ठीक ज्ञान होता है।

अतः कहना चाहिये कि वासनाएँ मानसिक re-agents* हैं, और सीमित बुद्धि वाले प्राणी को पहले-पहले बाहरी पदार्थों का ज्ञान इन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। इनमें पदार्थों के सामान्य स्वरूप का आकार मौजूद होता है, और वह पदार्थों को उनकी और अपनी निजी तड़पन (या आन्दोलन) के सादृश्य के द्वारा जान लेते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से ध्यान पदारोहण (succession) का यंत्र है, और इसलिये ज्ञान को सीमित करने का कारण है।

---

* शब्द re-agent का भाव पहचानने के मार्ग हैं। यह इल्म-कीमिया की एक परिभाषा है।

हम सब वस्तुयें एक-साथ नहीं जान लेते, बल्कि एक के बाद एक करके उन्हें जानते हैं, यद्यपि ज्ञान अपने अनन्त रूप में हर समय चेतना में मौजूद है। यह अनन्त ज्ञान ध्यान को खास उन कुल पदार्थों की ओर लगाने से सीमित होता है। हम उस समय क्षेत्र को भी नहीं देख पाते, जिसका अक्स हमारे नेत्र के पर्दे पर पड़ता है। जिस वस्तु में हमारी दिलचस्पी होती है, केवल उसी पदार्थ को मन जान पाता है।

१०—संज्ञा।

काँटे की भाँति चुभनेवाली वासनायें ही संज्ञा हैं। संज्ञायें खास चार हैं :—

(१) भय (प्राण) संज्ञा।
(२) भोजन संज्ञा।
(३) मैथुन संज्ञा, और
(४) परिग्रह संज्ञा।

जीवन-क्रम में मिश्रित संज्ञायें भी प्राप्त कर ली जाती हैं। किन्तु वे अधिकांश चरित्र की ही प्रभेद होती हैं—स्वाधीन संज्ञा उन्हें नहीं कहा जा सकता।

संज्ञाओं को नियमित तथा परिमित किया और नष्ट भी किया जा सकता है। आत्म-घात प्राण-संज्ञा को नष्ट कर देता है। ब्रह्मचारी मैथुन संज्ञा को परास्त कर देता है। साधुगण

परिग्रह-संज्ञा के ममत्व का नाश कर देते हैं; और जो सर्वज्ञ होजाते हैं, वह क्षुधा को भी जीत लेते हैं। वह भोजन से उदर-पोषण नहीं करते, वल्कि ज्ञान ही उनका भोज्य पदार्थ है।

भय को भी साधुगण जीत लेते हैं, जो हमेशा मृत्यु के लिये तैयार रहते हैं, और वे आपदा एवं रोग से तनिक भी विचलित नहीं होते।

११—अव्यक्त चेतना।

अनन्त ज्ञान स्वयं आत्मा का स्वभाव है; किन्तु वह साधारणतः प्राप्त नहीं है। वह ज्ञानावरण की पौद्गलिक तहों में छुपा हुआ दबा पड़ा है। वह उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि ज्ञानावरण की पौद्गलिक तहें विल्कुल नष्ट न करदी जायँ, जिससे कि वह उस में से झलकने लगे। अनन्त ज्ञान इस समय अक्रिय रूप में हमारे व्यक्तित्व की सब से नीचे की तहों (strata) में पड़े हुए हैं।

ये वासनायें (impulses) जो क्रिया-शील हैं, हमारी उस थोड़ी-सी चमकती हुई बुद्धि की किरण को घेरे हुये हैं, जिस के बल पर हम जीवन-व्यवहार का कार्य करते हैं। हम अपने आन्तरिक सम्बन्धों का समन्वय इस स्वल्प बुद्धि के सहारे से बाहरी दुनिया के साथ करते रहते हैं। यह भी कभी-कभी उत्तेजक भावों (वासनाओं) की उग्रता के कारण अस्पष्ट

हो जाती है। अवशेष भावों में, जो कम क्रियाशील अथवा अर्द्ध-व्यक्त है, वह ध्यान के नेपथ्य में रहते हैं, और अवसर पाकर प्रकट होते रहते हैं। वे उपयोग के 'तहख़ाने' में रहते हैं।

दबाये या रोके हुए भाव भी, जो किसी कारणवश बल-पूर्वक शमन किये गये, वह भी मन्द रूप से किसी न किसी दशा में, बहुधा विकृत संयोगों के साथ सम्बन्धित दशा में, मन में रहते हैं।

ये सब-कुछ मन में उपयोग (चेतना) की विविध सतहों पर रहते हैं।

१२—मन की केन्द्रीय इन्द्रिय!

शरीर की बुद्धि-विषयक क्रिया का कार्यालय मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय है। वह सब इन्द्रियों से सम्बन्धित अर्थात सब के लिये केन्द्र-रूप है। अँग्रेज़ी भाषा में इसीलिए उसे सहज (साधारण)-बुद्धि (common sense) कहते हैं। यदि विचार करने की यह इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित न होती, अर्थात् मनुष्य के शरीर में किसी एक स्थान पर से यदि इन्द्रियों पर शासन न होता, तो जीवन में बड़ा गड़बड़-घोटाला मच जाता, और अधिकाँश मूल्यमय समय व्यर्थ ही ख़राब होता! विचार करने में भी बड़ी देर लगती, यदि व्यक्तिगत उपयोग को प्रत्येक इन्द्रिय के पास

अलग अलग विचार-क्रिया की विविध दर्शन-विपयक बातों के लिये जाना होता। इस दशा में विचार और शारीरिक क्रिया का एकीकरण होना भी असंभव हो जाता!

मन-रूपी इन्द्रिय का मुख्य कार्य व्यक्ति की ज्ञान और कर्म-इन्द्रियों से सम्बद्ध क्रिया की सब परिस्थितियों का एकीकरण करना, समय को वचाना, और गड़बड़-घोटाला न होने देना है। आत्मा एक इञ्जीनियर के समान है; उसके दफ़्र में सब कल-पुर्जे और कनेक्शन वग़ैरह होने ही चाहियें। यदि कोई भी विभाग वहाँ उपस्थित न हो, तो उसके कारण जो ज्ञान उपलब्ध न होगा, उससे भयानक परिणाम ही प्रकट होगा।

मन की केन्द्रीय इन्द्रिय में ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार की नाड़ियाँ पहुँची हुई हैं। पहली प्रकार को नाड़ियों से वाहरी दुनिया का ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी के द्वारा ही इच्छा-गनी की आज्ञाओं का पालन विविध प्रकार की शारीरिक हलन-चलन द्वारा होता है। 'ज्ञान'-इन्द्रियों की नाड़ियों की व्यवस्था पुनरावृत्ति के लिये भी आवश्यक है; जैसे स्मृति। और स्मृति की तेजी, जिस से वह विचार-क्रिया के लिये ख़याल की सामग्री उपस्थित करती है, इस वात को प्रकट करती है कि स्मृति भी मन के दफ़्र ही में स्थान (मुक़ाम) पाये हुए हैं।

अतएव मन एक 'की-वोर्ड' की व्यवस्था (system

of key-boards) है, जिस पर इच्छा शासन करती है। वह इच्छा का मुख्य दफ़्तर है—यहाँ पुद्गल का आवरण अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक हलका है।

१३—हृदय—कमल।

आत्मा का केन्द्र-स्थान सिर में नहीं है, क्योंकि सिर कषायों और उद्वेगों का निवास-स्थान किसी अवस्था में भी नहीं है। वह केन्द्र तो हृदय—स्थल में अवस्थित है;—सो भी हृदय-नामी शारीरिक अवयव में नहीं, बल्कि रीढ़ की हड्डी में (हृदय—चक्र) में; यद्यपि यह बात ठीक है कि उसका प्रभाव स्थूल हृदय पर पड़ता है और स्थूल हृदय का प्रभाव उस पर पड़ता है। इस के अतिरिक्त और कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ उसे ठीक-ठीक स्थित किया जा सके। कषायों और उद्वेगों के प्रभाव से हृदय की भाँति अन्य कोई स्थल प्रभावित नहीं होता और सारे शरीर में और कोई स्थान आत्मा का केन्द्र—स्थान होने के उपयुक्त नहीं है।

हृदय—कमल एक नाड़ी—केन्द्र है, जिसके दलों का इच्छा—शक्ति (will) के लिये कार्यवाही का की—बोर्ड बना है। यह की-बोर्ड मस्तिष्क के विविध केन्द्रों से सम्बन्धित है, जिनके द्वारा बाहरी जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है, और उसका सम्बन्ध शरीर के विविध अवयवों से भी है, जिनके ज़रिये से आत्मा की इच्छाओं की पूर्ति होती है।

यहाँ विविध वासनाओं से प्रेरित आत्मा (will) बाहरी जगत् में अपनी बाधाओं को पूरी करने में व्यस्त मिलता है, वह अपने-आप 'तर्क' (reason)-रूप में कार्य करता है, जब कि वह अपनी आकांक्षाओं को एक हद तक दबाने में सफल होता है। वह स्व-व्यक्त हो जाता है (उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है) जब उसके पक्षपात का नाश हो जाता है, और कषाय मन्द पड़ जाते हैं; और जब उसके हृदय से बाहरी वस्तुओं को भोगने की इच्छाओं का सर्वथा नाश हो जाता है, तब वह सर्वज्ञ होजाता है।

अतएव हृदय ही आत्मा का कार्यालय और शासन-भवन है; सिर (मस्तिष्क) नहीं है!

१४—स्मरण-शक्ति और स्मरण।

ज्ञान—(ऐन्द्रियक)-तन्तु मस्तिष्क के दर्शन-सम्बन्धी केन्द्रों से बढ़कर मन की केन्द्रीय इन्द्रिय में पहुँचते हैं। यहाँ वह आत्मा से जा मिलते हैं। इस केन्द्र में आत्मा बहुत चेतना (बुद्धि-बल)-युक्त होता है। हलन-चलन की नाड़ियों के अन्त भी मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्री में होते हैं।

इन नाड़ियों के छोरों के मिलने से की-बोर्ड बनता है। ज्ञान और कर्म-तन्तु अपने-अपने सिरों से विभिन्न संयोग बनाते हैं। यह संयोग एक क्रियाशील की-बोर्ड के ढंग पर व्यवस्थित होजाते हैं। ऐसे कुल आठ क्रिया-शील बोर्ड हैं;

अर्थात् एक-एक तो प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के लिये, एक स्मृति और पुनरावृति के लिये, एक कर्मेन्द्रियों की क्रिया के लिये और एक कल्पना रचनात्मक शक्ति के लिये।

नाड़ियों के छोरों के उक्त संयोग अनुभव के द्वारा रचे जाते हैं, और उनके प्रयोग में योग्यता व्यवहार के सहारे से प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार से सुसज्जित हुआ आत्मा अपने दफ़्तर में से बाहरी दुनिया की ओर बड़ी सुगमता से ध्यान दे सकता है। वह ज्ञान-इन्द्रियों की क्रिया से वस्तुओं के स्वभाव को जान लेता है, और वह अपने अवयवों के प्रचलन करने से अपने को बाह्य प्रकृति से शारीरिक संसर्ग में लाता है; अपने शारीरिक अवयवों को वह अपनी इच्छा के आदेशानुकूल कर्म-नाड़ियों-द्वारा प्रचलित करता है।

मुख्यतः स्मरण-शक्ति दो प्रकार की है; स्मृति और पुनरावृति। पहली तो किसी अनुभव या दृश्य को याद कर लेना है, और दूसरी कण्ठस्थ किये हुये किसी पाठ को पुनः पढ़ डालना, अथवा शारीरिक क्रिया का मनोविवेक की सहायता के विना ही या उसके अभाव में दुहराना।

नाड़ियों के मध्य स्थान पर स्थित आठ प्रकार के की-बोर्ड को 'मन की केन्द्रीय इन्द्रिय' (Central Organ of the Mind) कहा गया है। यही स्मरण-शक्ति का

आधार है। जिन प्राणियों के यह नहीं है, उनके स्मृति का अभाव है। उनमें अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता नहीं है, और वह केवल वर्तमान में जीवन व्यतीत करते हैं। यदि उनको पुकारो, तो वह 'उत्तर' न देंगे, अर्थात् नहीं जानेंगे कि उनको पुकारा गया है।

दर्शन और स्मरण में अन्तर इस बात का है कि एक में तो ऐन्द्रियक उत्तेजना—जो मन में एक ज्ञान-भाव अथवा चेतना की एक अवस्था को उत्पन्न करती है—बाहरी दुनिया में जन्म लेती है, किन्तु दूसरे में उसका जन्म भीतर से होता है। मन में स्थित ज्ञान-तन्तुओं का बना हुआ की-बोर्ड ठीक वैसी ही उत्तेजना उत्पन्न करने में सामर्थ्यवान्, है, जैसी कि बाहरी दुनिया से आती है, और चेतना उसका उत्तर उसी ढंग पर देती है, जैसे कि वह दर्शन के अवसर पर देती है। यही वजह है कि स्मृति भी ठीक वैसी ही प्रबल और ताजी हो सकती है जैसे कि दर्शन !

नाड़ियों के सिरों का आठ प्रकार का की-बोर्ड 'आठ दल का कमल' अथवा 'द्रव्य-मन' कहलाता है। वह आत्मा नहीं है, और न स्वभाव से ज्ञानमय है। वह सूक्ष्म पुद्गल का बना हुआ है, और आत्मा के प्रयोग के लिये एक यंत्र-मात्र है।

१५—संकल्प-संयोग।

सङ्कल्प-भाव अपने विषय अथवा भाव के लिहाज़ से चाहे असंयुक्त हों, अथवा मिश्रित—वे सब द्रव्याधार की अपेक्षा अखंड (असंयुक्त) ही होते हैं।

मिश्रित भावों की विभक्ति साधारणतर अंशों में की जा सकती है, किन्तु उनके टुकड़े-टुकड़े नहीं किये जा सकते। क्योंकि टुकड़े-टुकड़े किया हुआ ज्ञान-भाव सिवाय मूर्च्छा के और कुछ न होगा। मैं इस काग़ज़ को नष्ट कर सकता हूँ, जिस पर अब मैं लिख रहा हूँ; किन्तु यह मेरे एवं अन्य किसी व्यक्ति के लिए भी असंभव है—(सारी दुनिया-भर के लिए भी यह असंभव है)—कि वह इसके मन में उपस्थित सचेतन प्रतिरूप को नष्ट कर सके। सत्य यह है, कि एक सचेतन भाव उतना ही नाश होने के अयोग्य है, जितना कि वह बनाया या पैदा किया जाने के अयोग्य है।

मिश्रित भावों का जन्म मौजूदा भावों के टुकड़ों को मिलाने से नहीं होता। वे मन में मौजूद रहते हैं, और वे असंयुक्त भावों की तरह ही जागृत किये जाते हैं। मान लीजिये कि एक लड़की अपनी गुड़िया को सँवारने जा रही है। अब पहले ही पहले वह एक नंगी गुड़िया को अपने हाथ में लेती है, और तब उसके मन में भी उस ख़ास गुड़िया की नग्नता का सचेतन भाव उपस्थित हो जाता है।

उपरान्त वह एक चोला उसे पहनाती है। अब बाहर पुद्गल और शक्ति की दुनिया में गुड़िया वही रहती है; किन्तु मन में पहलेवाली नङ्गी गुड़िया बिल्कुल ओझल हो जाती है, और उसका स्थान एक नई सँवारी हुई गुड़िया ले लेती है, जो बिल्कुल पहलेवाली गुड़िया के समान है। इस तरह जब-जब गुड़िया को एक नया कपड़ा पहनाया जायगा, तब-तब एक बिल्कुल नया सचेतन भाव मन में उदित होगा; और पुराना भाव अदृश्य में विलीन हो जायगा।

यही हालत तब भी होती है, जब कोई एक मकान को गिराया जाता हुआ देखता है। बाहरी दुनिया में घर वही रहता है और धीरे-धीरे गिराया जाता है, किन्तु मन में घर के गिराने की ऐसी कोई क्रिया घटित नहीं होती, और न घटित हो ही सकती है। वहाँ प्रत्येक क्षण एक नई मूर्ति का आविर्भाव और प्रत्येक दूसरे क्षण उसी का तिरोभाव होता है। यह बाहरी उत्तेजना के अनुसार होता रहता है। जब आप अपने सामने खड़ी हुई किसी आलीशान इमारत को देखते हैं, तब भी आप उसको ठीक एक ही शक्ल एक क्षण से अधिक देर तक मन में नहीं ठहरा पाते। उत्तेजक क्रिया बराबर चालू रहती है, और उसका सचेतन उत्तर भी उसी प्रकार सिलसिले से क्षण प्रति क्षण चालू रहता है। हाँ, जाहिरा आपको उस शक्ल

के स्थायी होने का जो योग्य होता है, वह प्रतिबिम्बित पदार्थ के बाहरी जगत में स्थायी होने का ही परिणाम है।

इस प्रकार सभी निश्चित भाव अपने स्वभावमें वस्तुतः असंयुक्त ही हैं। किन्तु जहां तक स्मरण-शक्ति के निर्माण का सम्बन्ध है, वहां तक भावों का सम्मिलन नाड़ियों के तन्तुओं के संयोग से होता है, जिनके प्रतिनिधि मन-रूपी चेतना इन्द्रिय में मौजूद रहते हैं, जब कि नाड़ियों उपयोग की अवस्थाओं (भावों) की तरह असंयुक्त (simple) वस्तुएं नहीं हैं, तब उनके अन्दरूनी सिरों के मिलने से बटन (key)-रूपी संयोगों का बनना जरूरी है; यदि वह लड़की, जो अपनी गुड़िया को सँवार रही है, उसके मौजूद न होने की अवस्था में, उसको अपनी स्मृति में ला सकती है। ज्ञान-तन्तुओं का कार्य दर्शन और स्मरण दोनों ही अवस्थाओं में एक-जैसा है। अन्तर केवल इतना है, कि दर्शन में तो उत्तेजना (stimulus) बाहरी दुनिया में उत्पन्न होती है; किन्तु स्मरण में वह स्वयं इन्द्रिय-केन्द्रों में इच्छा-शक्ति की प्रेरणा से जन्म पाती है।

दर्शन की अपेक्षा स्मरण हलके और रसहीन क्यों होते हैं? इसका यही एक कारण है कि दर्शन में तो पदार्थ स्वयं उपस्थित होता है, जो इन्द्रियों को लगातार उत्तेजना देता रहता है; किन्तु स्मरण में यह बात नहीं है। इसके अतिरिक्त पदार्थ, हर्ष और विषादमयी भावनाओं को दर्शक के हृदय में

जागृत करने की भी योग्यता रखता है। किन्तु स्मरण स्मरण ही माने गये हैं और इस हालत में वे दुःख-सुख कुछ भी पहुँचाने में समर्थ नहीं हैं।

नाड़ियों के (पौद्गलिक) संयोग (groupings) अपने-आप बन जाते हैं। कुछ नाड़ियाँ तो पहले-पहले पदार्थ का आभास मन तक ले जाती हैं; जैसे कि बिना सँवारी हुई गुड़िया का। इसके बाद अन्य आभास, जैसे कि सँवारने का क्रम चलता है, होते जाते हैं। इस ढंग से ही विभिन्न संयोग बन जाते हैं, जो उपरान्त पुनरावृति के साथ परस्पर अधिकाधिक गहन होते जाते हैं। अस्तु; इस प्रकार नाड़ि-तन्तुओं के आन्तरिक छोरों (terminals) के बने हुए संयोग मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में क्रियात्मक-बोर्ड की कुञ्जियों का काम करते हैं। बस, जहाँ उनमें से एक दबाया गया कि वह चट हलन-चलन करके दर्शन की प्रतिक्रिया को उपस्थित कर देता है और इस प्रकार चेतना में उसी तरह के भाव को जागृत कर देता है। इसी ढंग पर स्मृतियां सुरक्षित रक्खी जाती हैं, और उनका स्मरण भी हो जाता है।

दर्शन से कुछ अधिक तीव्र रूप में जब पुद्गल का प्रवेश (penetration) होता है तब वासनायें impulses बनती हैं। दर्शन में तो उपयोग केवल ज्ञाता-रूप cognitive) है; स्वाद चखनेवाले (appreciative) के

रूप में नहीं हैं। वह बाहरी जगत् के पदार्थ के स्वभाव को जानता-भर है—कि वह काला है या गोरा, नरम है या सख्त, खट्टा है या मीठा इत्यादि । वह अभी उसका मजा चखने के लिए आगे नहीं बढ़ा है । किन्तु जब यह एक क़दम आगे बढ़ता है, और अपने 'अवयवों' को आनेवाली उत्तेजना के लिये और भी अच्छी तरह खोल देता है, तब वह यह जान लेता है कि इसका स्वाद सुखमय है या दुखमय ! तब वह ऐसे शब्द कहता है कि 'मैं इसे चाहता हूँ', 'मैं इसे नहीं चाहता हूँ', इत्यादि । दूसरे शब्दों में इस को यों कह सकते हैं कि दर्शन में बाहरी उत्तेजना केवल चेतना के द्वार पर धक्का-भर लगाती है; और अनुभव में वह और भी भीतर बढ़ जाती है। एक दशा में सम्बन्ध केवल सतह से है; किन्तु दूसरी में गहन है। अब यदि कोई इन्द्रिय-उत्तेजना प्रिय है, और सांसारिक आत्मा उसकी बारबार तीव्र कामना करता है, तो एक तेज़ आकांक्षा मन में उत्पन्न हो जाती है, जो मरण के बाद भी क़ायम रहेगी; यदि वह ज्ञान अथवा आत्मा संयम-द्वारा नष्ट न करदी जाय।

इस प्रकार आत्मा और पुद्गल दोनों ही मिलकर वासना को जन्म देते हैं। दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध में वे ऐसा नहीं करते। इच्छा-पूर्ति से आकांक्षाओं की शक्ति बढ़ती है, जिसका अर्थ आत्मा में पुद्गल का बढ़ना है। पौद्गलिक प्रभाव के बिना उनका बनना असम्भव है । अनुभव चाहे

सुख-रूप हो, चाहे दुख-रूप, उससे मन में राग या द्वेष-रूपी आकांक्षा उत्पन्न होगी। यदि आत्मा से पुद्गल बिल्कुल अलग कर दिया जायगा, तो इन आकाँक्षाओं का भी सर्वनाश हो जायगा।

मृत्यु के समय नाड़ियों के वटन और घुण्डियाँ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु वासनाओं या आकांक्षाओं को आत्मा अपने नये 'जीवन' में ले जाती है। सब प्रकार की वासनायें—चाहे वह सामान्य स्वरूप की हों, और चाहे विशेष को सामान्य रूप में (जैसे किसी व्यक्ति के लिये प्रेम की वासना) धारण किये हुए हों—इसी कारण से मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा के साथ बनी रहती हैं। इसका कारण कि, हम अपने पिछले जीवन की घटनाओं को याद नहीं कर सकते, विशेष बाहरी उत्तेजना का अभाव है, जो हमारी पुरानी सोई हुई वासनाओं को जागृत करने के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही मृत्यु के पश्चात् हमारे नये जीवन के नये-नये संसर्ग हमारे लिये विशेष आकर्षक हो जाते हैं, जिनके कारण पिछली बातों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। पुरानी आकांक्षायें दबी हुई आग की तरह रह जाती हैं, जो ज्ञान और अनुभव की वृद्धि से कालान्तर में नष्ट भी हो सकती हैं। परन्तु पिछले जन्म के किसी पदार्थ के नज़र पड़ने पर वह फिर ताज़ी हो सकती हैं—यदि कोई ऐसा पदार्थ

दिखाई दे जावे, जो हृदय में बहुत तेज़ आन्दोलन उत्पन्न कर सकता हो।

इस प्रकार हम अपनी आदतें और वासनायें अपने साथ पिछले जीवन से लाते हैं। वे मृत्यु के बाद अकांक्षाओं या इच्छाओं के रूप में रहती हैं; ज्ञान के रूप में नहीं। अविभक्त आत्म-द्रव्य उन सब में व्याप्त रहता है, और वे एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए अस्थिर-ज्ञान अर्थात् मनोविकार के तौर पर बाहरी दुनिया की चीज़ों से अपनी कामना पूरी करने की चिन्ता में रहती हैं। उनका अस्तित्व बाहरी पदार्थों के ज्ञान के लिये जरूरी है। उनके बिना आत्मा में किसी वस्तु को जानने और लेने की इच्छा ही नहीं होती और आन्तरिक चेतना के क्रियाशील होने के अभाव में इन्द्रिय-ज्ञान का होना भी असंभव हो जाएगा।

१६—स्वप्न और स्वप्नवत् अवलोकन

स्वप्न तीन भागों के बने होते हैं—

(१) दृश्य-रूपी पार्ट

(२) स्वप्न में भाग लेनेवाले अर्थात् पार्ट करने-वाले (ऐक्टर-गण)

(३) उद्देश्य (किसी इच्छा की पूर्त्ति)

इनमें से पहले भाग का निश्चय उत्तेजना से होता है। जैसे कि शीत लगने की इन्द्रिय-उत्तेजना ठंडे मुल्कों के

दृश्य—वर्फ़ का गिरना आदि—उपस्थित करेंगे।

दूसरे भाग का निर्णय व्यक्ति के मुख्य विचारों से सम्बन्ध रखनेवाले ख़ास-ख़ास व्यक्तियों से होता है; अर्थात् अवशेष जागृत अवस्था के विचार के भाग से जो इच्छा को प्रचालित कर सके।

तीसरा भाग स्वप्न के लिये वास्तविक शक्ति ही है, क्योंकि एक सक्रिय वासना के बिना मानसिक प्रयोग चालू नहीं रह सकते हैं।

इन्द्रिय-दर्शन (उत्तेजना) स्वप्न के लिये प्रारम्भिक पड़ी है। यह चाहे बाहरी कारण से हो, चाहे शरीर के भीतर से उत्पन्न हो। इसके उपस्थित होने पर एक मानसिक वासना इस पर अपना अधिकार जमा लेती है। साधारणतया यह वासना उनमें से कोई होती है, जो जोरदार होती हैं, किन्तु जो दबा दी जाती हैं। तब उस सुषुप्त दशा के उपयोग में शीघ्रगामी विचारों की एक धारा उत्पन्न हो जाती है। स्वप्न में ऐक्टर वही होते हैं, जो सोनेवाले के विचार में इस जमाने में ज्यादा रहे हैं और जो स्वप्न-सम्बन्धी वासना की पूर्त्ति में भाग ले सकते हैं। किन्तु उनकी वेष-भूषा, उत्तेजित इच्छा के प्रारम्भ से ही दबा दिये जाने के कारण, साधारणतः बिगड़ी हुई होती है।

धर्म-सम्बन्धी स्वप्न की भाँति के दृश्य (visions) भी इसी ढंग से देखने में आते हैं। हाँ, उत्तेजना या

इच्छा जो विचार-धारा का मूल है, शारीरिक नहीं बल्कि एक उगती हुई धार्मिक कामना होती है। ज़रा-सी भी शारीरिक उत्तेजना और कभी-कभी सम्भवतः उस नैतिक कामना की गहनता ही, मानसिक धारा को सक्रिय बना देगी। अलंकृत रूप इसी कारण उत्पन्न होगा कि मन को कवि-कल्पना में व्यस्त रहने की आदत है।

१७—पहचानना

ज्ञान एक चेतना-सम्बन्धी वस्तु है। उसका भाव एक चैतन्य दशा का है, जिसको एक व्यक्तिगत चेतना अनुभव कर रही है। जानने की क्रिया में सज्ञान चेतन वास्तव में अपने को ज्ञाता के रूप में अनुभव करती है। ज्ञान का अर्थ इससे भी अधिक व्यापक है, जितना कि भाव इस कथन में गर्भित है कि:—"यह चीज़ (मान लीजिये नारंगी) है।" वास्तव में ज्ञान इस बात को प्रकट करता है कि मैं उस चीज़ को जानता हूँ—अर्थात् मैं नारंगी को देखता हूँ। "मैं" का ज्ञान स्वयम् अपने लिये साफ़ तौर से बहुत ही कम पाया जाता है। मुख्य स्थान ज्ञेय पदार्थ को ही मिलता है। यही हालत हर्ष और विषाद की भावनाओं के सम्बन्ध में है। ऐसा नहीं है कि हमें उनका ज्ञान इस प्रकार होता हो, मानो हमारा उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। हम उन्हें जानते हैं, क्योंकि

सचमुच उनका रंग हम पर पड़ा होता है। जब कभी कोई पशु कष्ट से व्याकुल होता है, तो उसकी व्यथा का सचेतन भाव यही होता है कि "मैं कष्ट में हूँ।" अतः ज्ञान, दर्शन और भावनाएँ अप्रत्यक्ष-रूप से उसी जानने वाली सज्ञानता को प्रकट करती हैं, जिसमें उत्पन्न होती हैं और जिससे वह जानी जाती है। स्मृति भी इस नियम से परी नहीं है क्योंकि स्मृति में भी 'मुझे याद है' का अप्रत्यक्ष ज्ञान विद्यमान है। स्पष्ट रूप से इसका यही अर्थ है कि मुझे याद पड़ता है कि मैं जानता था। 'पहचानना' (recognition) का शाब्दिक अर्थ किसी पदार्थ को दूसरी बार जानना है। इसका आधार स्मरण-शक्ति है। स्मरण-शक्ति या तो सादृश्य के अनुसार होती है, अथवा स्थानीय सम्बन्ध के अनुकूल। जब मन किसी ख़ास प्रकार के रूप (गुण) में रुचि प्रकट करता है तो सादृश्य पहचानने की क्रिया को व्यक्त करती है, और जब मन किसी वस्तु के वातावरण में अनुराग रखेगा, तो स्थानीय सम्बन्ध ही उसका पथ-प्रदर्शक होगा। दूसरे शब्दों में कहें—जब हम किसी सामान्य विचार का ख़याल करते हैं, तो वैसी ही स्मृतियाँ याद पड़ती हैं; किन्तु जब हम किसी ख़ास वस्तु पर अटक जाते हैं तो उस वस्तु के आस-पास की चीजें और उसके संयोग नज़र के सामने आ जाते हैं।

संयोगों के सादृश्य का बनाव पहले-पहले मानसिक वास-

नाओं का कार्य है, क्योंकि सभी सादृश्य सामान्य गुणों-द्वारा ही जाने जाते हैं। उदाहरण के रूप में, हम पहले इस बात को, कि पदार्थ सफ़ेद रंग का है, सामान्य सफ़ेद ज्ञान के द्वारा जानते हैं। फिर बाद में सफ़ेद रङ्ग के भेदों को देखते हैं। यह सब वासनाएँ मन के चक्षु-दर्शन-सम्बन्धी भाग में इकट्ठी रहती हैं। उनके क्रियाशील होने का एक ही केन्द्र है, और जब कि साधारण सफ़ेदी उन सब में एक-सी है और शुरू में ही जाँच ली गई है तो उसके भेद और रूपान्तर स्वभावतः उसके चारों ओर एकत्र होंगे। नवीन वासनाएँ भी चाहे वह सादी हों या संयुक्त किसी प्राथमिक,सामान्य केन्द्र के गिर्द ही इस कारण से इकट्ठी होंगी।

स्थान-विषयक सम्बन्ध पहले ही अनुभव में आता है। किन्तु ध्यान के इन्द्रिय-दर्शन के एक भाग पर लग जाने के कारण वह गौण हो जाता है। अतः वह ध्यान की विरक्ति से ही उत्पन्न होता है। पूर्व-परिचय का भाव इस कारण से उत्पन्न होता है, कि स्मरण-द्वारा उपस्थित किया हुआ ब्यौरा पदार्थ में पाया जाता है। जानने में ब्यौरा पदार्थ से प्राप्त होता है; पहचानने या याद करने में वह मन से उत्पन्न होता है, और पदार्थों से मुक़ाबला करने पर ठीक मिलता है। इसलिये जितनी ज़्यादा बातें मुक़ाबला करने पर पदार्थ में पाई जायँगी, उतना ही ज़्यादा जानकारी का भाव होगा।

पहचानने की प्रारम्भिक क्रिया केवल बाहरी दुनिया के किसी पदार्थ को एक मानसिक वासना द्वारा जान लेना है। दूसरी अवस्था मन द्वारा ब्यौरे का समर्थन होने पर प्राप्त होती है। जानकारी की भावना बहुत करके गहन हो जाती है, यदि वस्तु ऐसी है जो याद करनेवाले व्यक्ति के दिल में तीव्र राग या द्वेष उत्पन्न कर सकती है। किन्तु यह जानकारी की भावना भी पूरी तरह पहचान लेने का चिन्ह नहीं है, जैसे कि पहचान सम्बन्धी भूलों से स्पष्ट है—खासकर पति-पत्नी जैसे निकट-सम्बन्धित लोगों की भूलों से।

पहचानने का मुख्य चिन्ह सम्भवतः सादृश्य के मिलान का वह स्फुरण है, जो स्मृति के आन्तरिक और बाह्य दुनिया के पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले पौद्गलिक आन्दोलनों के सम्मिलन से अनुभव किया जाता है।

१८-विचारों का ताँता।

विचार किसी एक मानसिक वासना की प्रेरणा के कारण उत्पन्न होता है। वासना चेतना की विषयाशक्त दशा को कहते हैं। अतृप्त इच्छाओं का समूह-ही मानसिक वासनाओं का आधार है। विचारों का ताँता मानसिक दशाओं (अर्थात संकल्पों या जल्द मिटने वाले दर्शन-रूपी ज्ञानों) की लड़ी है। यह उस वक्त तक जारी रहता है जब तक उद्देश्य प्राप्ति सुलभ न जान पड़े, अथवा उस समय तक जब कि यह किसी दूसरी वासना

से उत्पन्न होनेवाले विचार-क्रम से अथवा शारीरिक क्रिया से या नींद की वेहोशी से वन्द न हो जाय।

संकल्प और वनते-वनते मिट जानेवाले दर्शन-रूपी ज्ञान आन्तरिक उत्तेजना (stimulus)-द्वारा मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय की सक्रिय-सहायता से पुनः जागृत किये जाते हैं। बटनों (तन्तु-संयोगों) का अस्थिर होना, और उनके हलन-चलन, आत्मा-द्वारा भूतकाल में अनुभव की हुई चेतन-दशाओं को जागृत कर देता है । यदि मन उत्तेजना के गुण पर ही अटक जावे, तो वैसे-ही दृश्य याद पड़ते हैं। यदि वह अनुभव के वाहरी वातावरण पर ध्यान दे, तो स्थानीय-सम्बन्ध स्मृति के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगा।

विचार दर्शन के किसी भी केन्द्र-द्वारा नहीं किया जा सकता। वह केवल सामान्य-भावों द्वारा किया जाता है। जो कि मन के केन्द्रीय स्थान में उपजते रहते हैं। दर्शन-सम्बन्धी केन्द्र तो केवल उपस्थित असली पदार्थों से सम्पर्क रखते हैं। उनका सम्बन्ध सामान्य संकल्पों से नहीं है।

१९-संयम (निवृत्ति)

चेतना का सक्रिय-यन्त्र प्रकाश की वह छोटी-सी किरण है, जिसे सज्ञानता (उपयोग) कहते हैं । वह एक है और विभक्त नहीं की जा सकती । तो भी वह व्यक्ति की सभी

उत्तेजनाओं में सब ठौर बटी हुई है। वह आत्मा की ही एक अपेक्षा है, जो अविभक्त है और जो उसकी प्रत्येक आकांक्षाओं और वाञ्छाओं के साथ उपस्थित है। वह सारी इन्द्रिय-रचना में अत्यन्त गहन सचेतन विन्दु है, और अपने निजी ज्ञान से वह दमकता और चमकता है; यद्यपि वह अभी वासनाओं के असर से मुक्त नहीं हुआ है। वह उधर ही को मुड़ जाता है, जिधर को वासनाएँ उसे ले जाती हैं। मन की तत्कालीन मुख्य आकाँक्षा उस पर अपना क़ाबू जमा लेती है। दूसरी वासनायें तब अपने आप धीमी पड़ जाती हैं। क्योंकि, ध्यान का कार्य एक-रूप है, जो कि केवल एक विन्दु है।—न कि विन्दुओं का पुञ्ज!

किन्तु ध्यान में जान-बूझकर किन्हीं भी वासनाओं के उपद्रवों को रोकने की शक्ति है, जब वह उनके साथ उनके बहाव के रुख़ पर बह जाने के लिये तैयार न हो। वह चाहे तो अपने को बाहरी दुनिया की तरफ़ से बिल्कुल हटा ले, और अपने स्वभाव का अध्ययन करने में ही मग्न हो जावे। इस दशा में बाहर की ओर झुकी हुई कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकेगी। किसी विषय में-चाहे वह बाहरी पदार्थ हो—गहन-तन्मय होजाने का परिणाम इन्द्रिय-जनित क्रिया का अभाव है। हाँ, जो इन्द्रिय स्वतः उस पदार्थ से सम्बन्धित है—वह इस अभाव में नहीं आती। पालियामेंट के, अथवा अन्य-विख्यात

व्याख्यानदाता—जब सभाओं में जोश से भरे हुए—धारा-प्रवाह भाषण देने में तन्मय होते हैं, तो उन्हें शारीरिक कष्ट का तनिक भी ध्यान नहीं होता। इस सब का कारण सचेतन जीवन की एकाग्रता है, जो केवल चित्त की एकाग्रता-द्वारा कार्य करती है और कर सकती है।

विरोधी वासनायें या क्रियायें—जैसे कि, चुपचाप खड़े रहना और भागना—वे भी जब होती हैं, तो एक-दूसरे के काम में बाधा डाल देती हैं। क्योंकि, कोई व्यक्ति दो विरोधी कार्य एक समय में नहीं कर सकता। विचार और कार्य का विरोध बिल्कुल स्पष्ट है। इन्द्रियों के कार्य पर उसके प्रभाव का हाल देखा जा चुका है, किन्तु उसका प्रभाव हमारे ज्ञान पर भी पड़ता है। वासनाओं में लिप्त सामान्य सङ्कल्प (ideas)–जो आत्मिक शक्ति की इच्छा के आधीन होने की दशा में आकांक्षाओं के रूप में पाये जाते हैं—ध्यान के विचार में लवलीन होजाने के समय अस्थिरता-रहित हो जाते हैं। अङ्गरेजी भाषा के रिफ्लेक्शन, (reflection) शब्द के (जो 'रि'=वापस और फ्लेक्श्यो' झुकना, धातुओं से बना है—) शब्दार्थ के अनुसार कथन करें, तो जीवन की भावनाओं का प्रवाह अपने ऊपर लौट पड़ता है, और ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान हमारी इच्छाओं द्वारा ही द्रवित होकर प्रवृत्ति-मार्ग में लग जाता है। और वही विचार-द्वारा संकल्प-भावों में बदल जाता है।

स्मृति का अन्तिम रूप, जो नाड़ियों के सम्बन्धों और संयोगों से स्वतन्त्र है, और जिसको बाहरी उत्तेजना की ज़रूरत नहीं है, वह भी वैयक्तिक अनुभवों को सामान्य रूप में धारण करता हुआ वासनाओं में ही बना रहता है। वह विचार द्वारा जीवन-प्रवाह को स्थिर करके पुनःस्मरण किया जा सकता है।

जब वासनायें बिल्कुल नष्ट हो जाती हैं, और आकाँक्षाओं के उपद्रव हटा दिये जाते हैं, तो वह सब ज्ञान जो इस समय पुद्गल से दबा हुआ है, और वैयक्तिक आकाँक्षाओं से अस्थिर हो रहा है-स्थिर होजाता है और सदा के लिये प्राप्त हो जाता है। तब आत्म अस्थिरता की तड़पन से मुक्त हो जाता है, और स्थिरता को प्राप्त होता है। क्योंकि आत्मा और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिये ज्ञान की स्थिरता वास्तव में आत्मा की ही स्थिरता है।

२०—क्रिया के कल-पुर्ज़े

इच्छानुसार क्रिया की कुञ्जियाँ (levers) मनरूपी केन्द्रिय इन्द्रिय के की-बोर्ड (keyboard) के द्वारा व्यवहार में आती हैं। वे जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही कर्मेन्द्रियों की नाड़ियों के छोरों से बन जाती हैं। अपनी चुभनेवाली वासनाओं (संज्ञाओं) से प्रेरित होकर बालक बेचैनी की दशा में पड़ जाता है। यह बेचैनी की तड़पन उसके शारीरिक अवयवों तक

फैल जाती हैं। और वह जल्दी ही हाथ, पैर और मुँह की उपयोगी क्रियाओं के तरीक़े और भेद जान जाता है। इन्हीं क्रियाओं के मध्य में कर्मेन्द्रियों की नाड़ियों के आन्तरिक संयोग बन जाते हैं, और समय बीतने पर मन के मुख्य दफ़्तर में एक कार्यकारी की-बोर्ड बन जाता है।

शरीर में आत्मा ऐसे नहीं रहता, जैसे एक किराये-दार मकान में रहता है। और न वह शरीर में घूमने के लिये स्वतन्त्र है। वह पुद्गल से बे-तरह कठिन तौर से बँधा हुआ है, और अपने क़ैदखाने में जरा भी हिल-जुल या डोल नहीं सकता। इस तरह पर कर्म-इन्द्रियों के तन्तुओं के अन्दरूनी सिरों से बँधा होने के कारण ही यह बात है, कि इच्छाओं से बँधी हुई आत्मा की प्रत्येक वास्तविक क्रिया (केवल विचार की हरकत नहीं) एकदम शरीर में कर्मेन्द्रियों-द्वारा प्रकट हो जाती है। इच्छा के बल-प्रभाव क्रियात्मक बोर्ड की चाबियों पर पड़कर हाथ-पैर आदि चलाने को समर्थ होते हैं, जिससे कि इच्छित-क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।

कार्य दर्शन का परिणाम है। चाहे वह रागयुक्त हो अथवा द्वेषयुक्त। वह चाहे अनिच्छित और अवाञ्छनीय वस्तु के हटाने के लिये हो, अथवा इच्छित और वाञ्छित वस्तु को अति-निकट ला रखने के लिये। इच्छा-रहित शुद्ध दर्शन केवल उच्च-कोटि के ऋषियों के लिये ही सम्भव है। जीवन

की निम्न-कक्षाओं—योनियों में, जिनमें केन्द्रीय मानसिक व्यवस्था (विवेक) नहीं होता, दर्शन और कार्य का सीधा-बन्धन होता है। मार्गों को पसन्द करने का वहाँ सर्वथा अभाव है। मनुष्य एवं अन्य उच्च-योनियों में मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय के अस्तित्व से बहुत बड़ा फ़र्क पड़ता है। वे साधारण विवेक-रहित शारीरिक क्रिया से जिसकी आदत पड़ी हुई है, बाहरी वस्तुओं के साथ व्यवहार करते हैं। और वे आदत की लाचारी को रोककर उसके स्थान पर अन्य इच्छित उपायों को काम में लाने की भी योग्यता रखते हैं। सब से नीचे दर्जे की क्रिया वह है, जहाँ विवेक-शून्य शारीरिक कार्य बाहिरी वस्तु के सम्बन्ध में हुआ करते हैं। यहाँ बहुत ही अस्पष्ट 'सांज्ञिक विवेक', भोजन को पकड़ने अथवा खतरे से दूर भाग जाने के रूप में होता है। उच्च-स्थिति में एक से अधिक क्रियाओं की सम्भावना रहती है। अब उपाय-रूपी कार्य स्थानीय नहीं रहता। उसमें रीढ़ सम्बन्धी कल-पुर्जे भी व्यवहृत हो सकते हैं। सर्वोच्च दशा में उत्तर विवेकपूर्वक इच्छानुसार दिया जाता है, शारीरिक निर्माण के साथ ही वह नहीं बना दिया जाता।

अपने आठ दल वाले कार्यकारी बोर्ड के कारण आत्मा-एक ज्ञाता-कर्ता-रूप पिण्ड है। जो अपना मार्ग आप निश्चित करने में समर्थ है। अपनी ही संज्ञाओं से प्रेरित हुआ वह भोजन और संसार के उत्तम पदार्थों की खोज में

फिरता है। वह विचार करने के लिये स्वतन्त्र है, किन्तु कार्य करने में सदैव वैसा नहीं है। समाज का सदस्य होने के कारण उसे सामाजिक बन्धनों का भी पालन करना होता है, और कभी-कभी औरों के पाशविक अत्याचारों के समक्ष भी झुक जाना पड़ता है। किसी अवसर पर वह ऐसी इच्छाएँ करता है, जो कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं। किन्तु तीव्र इच्छाएँ सहज में ही नहीं दबाई जाती हैं। वे दबाव से दब तो जाती हैं, पर विकृत रूप में छिपी हुई बनी रहती हैं। उनके दबाव और विकृत होने से उनके नाड़ी-सम्बन्ध भी अछूते नहीं रहते हैं, और कर्मेन्द्रियों की नाड़ियों में भी खराबी फैल जाती है। इस प्रकार चेतना की सतह के नीचे बहुत गड़बड़ मच जाती है, जो कभी कभी खराब हालतों में पागलपन की सूरत भी धारण कर लेती है। इस विकार के चिन्ह व्यक्ति की व्यवहार-सम्बन्धी असम्बद्धता में भी पाये जाते हैं। इस तीव्र कामना-शक्ति की नीचे की लहरों पर जागृत दशा में तो अधिकार रक्खा जा सकता है, किन्तु स्वप्न देखनेवाले मन की सुषुप्त दशा में उनको रोक रखना अति कठिन होता है। वे ज़रा-सी शक्ल बदल लेने से रोकनेवाली शक्ति के सामने से गुज़र जाते हैं। यही कारण है कि स्वप्न अक्सर ऐसी इच्छाओं की पूर्ति के भाव को लिये होते हैं, जो दबा दी गई हों। यही कारण इस सम्बन्ध में भी है कि उक्त प्रकार के विकार-रूपी

रोगों के रोगी स्वास्थ हो जाते हैं, जब उन्हें विकार की जन्म-दायिनी भावना की याद हो आती है, और जब उस सम्बन्ध में अपने दिल का हाल किसी अन्य व्यक्ति से कह डालते हैं। इसका खुलासा सरल है—अर्थात्, मानसिक दमन जो इस भय से किया जाता है कि दूसरे लोग क्या कहेंगे—उस क्षण नष्ट हो जाता है, जिस क्षण हृदय किसी के सामने हल्का कर लिया जाता है। और इसके साथ-ही दोनों प्रकार के—अर्थात् ज्ञान और कर्मेन्द्रिय-सम्बन्धी-विकृत-संयोग भी अपने जन्मदाता बल के नष्ट होने पर स्वत ही नष्ट हो जाते हैं

२१—सुख और दुख

सुख तीन तरह का और दुख दो तरह का है। तीन प्रकार का सुख यह है—१-शारीरिक, २-मानसिक और ३-आत्मिक। दो प्रकार का दुख—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक है। आत्मिक दुख कोई चीज नहीं है।

शारीरिक और मानसिक दोनों ही सुख ऐन्द्रियक ढंग के हैं। वे इन्द्रियों की प्रतिक्रिया पर अथवा इन्द्रियों की प्रतिक्रिया के स्मरण पर अवलम्बित हैं। यही बात दुख के सम्बन्ध में है—वह या तो वास्तविक होता है अथवा काल्पनिक, अर्थात् विचार-प्रवाह अथवा स्मृति के फलस्वरूप। इन्द्रियों के परे न सुख और न दुख पहुँचने को समर्थ है।

आत्मिक सुख स्वतन्त्रा का (आत्म-स्वातन्त्र्य का) अनुभव करना है। वह तब अनुभव में आता है जब आत्मा पर से कोई बोझ उठ जाता है। वह एक तरंग है, इसलिये वह इन्द्रियों से पूर्णतः स्वतन्त्र है। चिन्ता के बोझ और इच्छा के दवाव के दूर होने से वह उत्पन्न होता है। यदि इसके सम्बन्ध में मानसिक संकल्प उत्पन्न हो जावें तो वह मानसिक सुख में बदल जायगा। दुख और उसके रूपान्तर हमेशा ही शारीरिक या मानसिक होते हैं। वह या तो कोई बोझ है—जिसे ढोना पड़ता है या उसका मानसिक 'चित्र' है, अथवा झुलसी हुई आशाओं का दृश्य या विचार आदि हैं, जो उसको उत्पन्न करने में कारण हैं। स्वाधीनता के सुख के विरुद्ध मानसिक दुख सदैव विचारों या भावों-द्वारा उत्पन्न होता है। स्वाधीनता का भाव अर्थात् आनन्द, सब प्रकार के विचारों या भावों से नितान्त विलग है; और वह विशुद्ध चेतन-तरङ्ग या भावना-मात्र है।

यह विचारणीय बात है, कि सफलता का संदेश चाहे जितनी निकृष्ट भाषा में कहा जाय, उसका स्वर (शब्द या आवाज) कानों के लिये कितना ही कटु हो, वह चाहे-जैसे मैले-कुचैले काग़ज़ के चिथड़े पर लिखा जाय, स्याही भी गन्दी और भद्दी हो, सन्देश वाहक भी अयोग्य और अप्रिय हो—किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, उसके पाते ही उसी

क्षण आनन्द की भावना जागृत हो जायगी, जिस क्षण दिल में उसके सत्य होने का विश्वास हो जायगा। यह इसीलिये होता है कि नेत्र जो सुन्दर वस्तुओं के देखने में आनन्द और असुन्दर चीज़ों से घृणा प्रकट करता है—आनन्द का स्थान नहीं है। वह इन्द्रिय-दर्शन को ही जन्म दे सकता है। फिर वे चाहे आनन्ददायक या प्रसन्नता-सूचक हो या नहीं। इसी प्रकार कान भी सुख के अनुभव कराने में कारण नहीं है यद्यपि वह सफलता के सन्देश को आत्मा तक पहुँचाने में सहायक-कारण है। कान का गुण यह है कि वह सरस, सुरीले, और संगीतमय स्वरों को सुनने में आनन्द और नीरस, कठोर, और कड़वी बातों को ग्रहण करने में रोष प्रकट करता है। किन्तु सफलता के संदेश-वाहक की आवाज़ कितनी ही कठोर और अप्रिय क्यों न हो, तो भी उस सन्देश को सच मानते ही हृदय में आनन्द की भावना जागृत हो जायगी। बस, यही दलील (तर्क) इस बात को प्रकट करने के लिये काफ़ी है कि सुख (स्वाधीनता) की भावना इन्द्रियों के संसर्ग के बिना स्वाधीन रूप में ही उत्पन्न होती है।

अतः व्यथा का सर्वथा नाश तथा उसको हटा देना ही सुख को प्रगट होने का अवसर देना है। यह सम्भव है कि ऐसा अवसर बाहरी कारणों से प्राप्त हो, जैसे कि किसी उद्योग में सफलता का मिलना, अथवा मानसिक त्याग से जैसे

उद्योग को बिल्कुल ही छोड़ देना। किन्तु उद्योग के दबा देने से सुख नहीं मिलेगा, क्योंकि व्यथा का दबा देना ठीक वह चीज़ नहीं है, जो उसका नष्ट हो जाना है। दबाव में मानसिक उलझन से छुट्टी मिल सकती है, किन्तु उसे आत्मा का आन्तिरक-स्वभाविक सुख नहीं मिल सकता। यह तो व्यथा-पुञ्ज के एकदम नष्ट हो जाने पर ही होता है, कि वह स्वाभाविक-सुख की लहर, जो अन्दर दबी पड़ी थी, एकदम उमड़ पड़े। इस दृष्टि से प्रत्येक वासना एक व्यथा-पुञ्ज है। जब यह अपने पूर्ण प्रयोग में होता है। तब दुख का अनुभव होता है; जो निःकृष्ट दशाओं में अति की सीमा तक पहुँच जाता है, और जब दुख को लहरों को रोकनेवाले कारण नष्ट कर दिये जाते हैं, तब आनन्द का अनुभव होता है।

इस प्रकार ज्ञानमय आत्मा अपने आन्तरिक स्वभाव में आनन्दमय भी है। वह सूक्ष्म पुद्गल के बोझ के नीचे दबा हुआ पड़ा है, जो कि इच्छा के–मुख्यतः व्यथा के–साथ आता है। साहसपूर्वक इच्छा का त्याग करने, अर्थात् वैराग्य-दशा को पहुँचने पर इस ज्ञानमय द्रव्य को पुद्गल को बोझ से मुक्त किया जा सकता है, जिसके कारण उसका ज्ञान घुट-घुटकर आकांक्षाओं और परेशानी को पैदा करनेवाली वाञ्छाओं में बदल जाता है। पौद्गलिक संसर्ग के अतिरिक्त वासनाओं के लिये कोई आधार शेष

नहीं हैं। जिस क्षण वे पुद्गल की अशुद्धि से छुट जायँगी उसी क्षण ज्ञान-रूप हो जायँगी।

आत्मा की स्वाभाविक आनन्द-दशा को विगाड़ने के सम्बन्ध में व्यथा का प्रभाव याद रखने योग्य है। यह बात नहीं है, कि बड़े-बड़े उद्योग और उद्देश्य ही महान् व्यथाओं को उत्पन्न करते हों। एक छोटी-सी चीज़—केवल लंगोटी-ही—किसी को पूरा-पूरा व्यथित बनाने के लिये, उसकी सुख-दशा को नष्ट करने के लिये, काफ़ी है। इसलिये सच्चा सुख उसी समय मिल सकता है, कि जब सब इच्छायें हृदय से नष्ट होगई हों। इसका यही भाव है, कि जिन्होंने पुद्गल के संसर्ग से अपना नाता तोड़ लिया है, वे अबाध और बिना श्रम के आत्मा की स्वाधीन आनन्द-वृत्ति का अनुभव करते हैं। उन पर न इच्छा, और न व्यथा अथवा पुद्गल का कोई प्रभाव पड़ सकता है।

आत्मा-सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु की तरह आनन्द भी एक असंयुक्त (simple) अर्थात् अखंड चीज़ है। वह टुकड़ों का बना हुआ नहीं है। और न वह पौद्गलिक अणुओं अथवा अन्य किसी प्रकार के अंशों का बना हुआ है। कोई भी हिस्से या टुकड़े उसके सम्बन्ध में अनुभव नहीं किये जाते हैं। अविनाशी और अकृत्रिम होने के कारण वह उपस्थित तो हमेशा ही रहा है—परन्तु अप्रकट दशा में, पौद्गलिक संसर्ग में दबा हुआ। पौद्गलिक संसर्ग

की जरूरत ही इस बात के लिये है कि एक स्वाभाविक क्रिया को रोककर अप्रकट रख सके।

व्यथा-पुञ्ज का नाश मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में होता है। क्योंकि शरीर के अन्य भागों में पुद्गल का आवरण बहुत गहरा है, जो साधारण रूप से पूर्णतः नष्ट नहीं किया जा सकता। और भी स्पष्ट शब्दों में यों कह सकते हैं, कि ध्यान में परेशानी की खिंचावट के ढीला होने के कारण मानसिक उलझन से छुटकारा मिल जाता है। इससे इस बात का भी खुलासा होता है कि ज्यों-ही उपयोग किसी दूसरे पदार्थ के व्यथा-पुञ्ज में सलंग्न होता है—त्यों-ही आनन्द की तरंग नष्ट हो जाती है।

शारीरिक सुख अवयवों की स्वस्थ अवस्था का रुचिकर परिणाम है। अथवा वह बाहरी चीजों से उत्पन्न होता है। शारीरिक दुख ठीक इससे उल्टा है। यह दोनों ही असम्भव हो जायँ, यदि आत्मा शरीर के बन्धन से छुट जाय। किन्तु सब प्रकार के शारीरिक संसर्ग के नष्ट होने से ही आत्मिक सुख की अनन्त-गुणी वृद्धि हो जायगी। कारण, सारे बखेड़े की जड़ शरीर ही है।

आत्मा एक द्रव्य है, जो अपनी पर्यायों का अनुभव करता है। जब यह पर्यायें रुचिकर होती हैं, तब वे सुख-रूपी होती हैं। और यदि ये अरुचिकर हुईं तो उन्हें ही

दुख कहते हैं। जब बाहरी प्रभावों-द्वारा पर्यायों का होना बन्द हो जाता है, तो आत्मा स्वयं अपनी स्वाभाविक दशा का ही अनुभव करता है । उसकी निजी दशा भी तो कुछ होनी चाहिये, नहीं तो तबदीलियाँ किस चीज़ में होंगी। जो पदार्थ अनुभव-शून्य हैं, वे किसी भी वस्तु का अनुभव करने के योग्य नहीं बनाये जा सकते। फिर वह सुख-दुख या आनन्द का क्या अनुभव करेंगे ?

आत्मा की आन्तरिक स्वाभाविक भावना सुख-रूप है, जो बाहरी बोझों के कारण दबा हुआ है । जब बाहरी बोझे थोड़े-बहुत हटा दिये जाते हैं, तो इस स्वाभाविक सुख की झलक—स्वतन्त्रता की तरंग-रूप में—दृष्टि पड़ती है। और जब वे बोझे बिल्कुल ही हटा दिये जाते हैं, तो आत्मा अपनी सनातन-स्वाधीनता की दशा में रह जाता है। जिस अवस्था का आत्मा उस समय अनुभव करेगा, वह आनन्द की कभी न ख़त्म होने वाली दशा होगी।

सभी बाहरी पदार्थ व्यथा के मूल-कारण हैं। इस-लिये स्वभाव से आत्मा के लिये एक बोझा-मात्र हैं। उन्हें बटोरा, सँभाला और बनाये रक्खा जाता है। और यदि वे खो गये, तो फिर उन्हें इकट्ठा किया जाता है। जब मन उन की तरफ़ से मोह-भाव को बिल्कुल हटा लेता है, तो आत्मा पर से उस के त्याग की मात्रा के अनुसार व्यथायें दूर हो जाती हैं। यदि बाहरी पदार्थों का बिल्कुल त्याग

कर दिया जावे, तो अधिक से अधिक सुख का अनुभोग प्राप्त होता है। बस, जिन्होंने अपने को त्याग में नितान्त पूर्ण बना लिया है, वे सचमुच सुखी हैं।

आत्मा–जैसे अखण्ड-पदार्थ की आन्तरिक भावना का हम कैसे अनुमान करें? उसके द्रव्य के एक गुण के रूप में। गुण चाहे बाहरी प्रभावों के कारण अव्यक्त और अक्रियमय भले ही होजायँ, किन्तु वे सर्वथा नष्ट नहीं होते। जब वह सब बोझों से मुक्त होंगे। तब शाश्वत सुख का गुण आत्मा के अनुभव में पूर्णतः प्रकट होगा।

इस प्रकार जो सुख शरीर और मन से स्वाधीन है, वह स्वयं आत्मा का स्वभाव ही है। जब वह पूर्णतः प्राप्त हो जायगा, तो अवशेष प्रकार के इन्द्रिय सुख सब नष्ट हो जायेंगे। क्योंकि उस वक्त इन्द्रिय–सम्बन्धी वासनाओं का अभाव होगा, और उन वासनाओं में जो ज्ञान के भाव गर्भित हैं--वह सब सामान्य या सामान्य-रूपी विशेष ज्ञान बन जायेंगे।

मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय में सुख और दुख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह केवल विचार का दफ़्तर है; दर्शन अथवा अनुभव का नहीं! हाँ, यह ज़रूर है कि वह इच्छानुकूल किसी भी इन्द्रिय-अनुभव को जागृत अथवा जीवित कर सकता है।

वास्तव में बात यह है कि आत्मा सारे शरीर में

व्याप्त है, और वह सुख-दुख-जैसे विचारों को अपने विभिन्न भागों में अनुभव करने के योग्य है। यदि आत्मा सारे शरीर में व्याप्त न हो—केवल एक केन्द्रीय स्थान में स्थित हो; अर्थात् हृदय-रूपी कमल में,—तो उसे पीड़ा के स्थान से संदेश मिलने पर बाधित होना पड़ेगा। किन्तु कोई भी संदेश वस्तुतः सुख या दुख-रूपी अनुभव को नहीं पहुँचा सकता है; जैसे जलन को। क्योंकि वह आग के विषय का सन्देश होगा, न कि स्वयं आग; जो नाड़ियों द्वारा भेजा जा सके। और यदि सचमुच आग उन पर से गुजर सके तो वे कम से कम क्षण-भर को तो जल ही जावेंगी। यदि कलकत्ते में कोई आदमी सुने कि उसका न्यूयॉर्क-(अमरीका)-वाला घर आग से जल रहा है, तो वह इस जानकारी से केवल बेचैन होगा, किन्तु जलने का उसे साक्षात् अनुभव न होगा। ठीक यही हालत आत्मा की होनी चाहिये, जब कि उसके पास किसी भी शारीरिक भाग से पीड़ोत्पादक संदेश आवे। और फिर जलने की दशा का अनुभव भी सिर्फ वहीं होना चाहिये, जहाँ आत्मा विराजमान है। वहाँ नहीं होना चाहिये, जहाँ वह सचमुच घटित हुई हो, जैसा कि वास्तव में होता है।

२२–इन्द्रिय–दर्शन के भेद

इन्द्रिय–दर्शन—अस्पष्ट और स्पष्ट दो तरह का होता है। अस्पष्ट और धुँधले प्रकार के दर्शन का अनुभव आँख को छोड़कर शेप सभी इन्द्रियों से होता है। ऐसे दर्शन क्षणिक होते हैं, और उपयोग–द्वारा वे स्थिर भी नहीं किये जा सकते। इस कारण उनका अन्वेपण भी नहीं किया जा सकता। और स्मृति-द्वारा भी वह जागृत नहीं किये जा सकते। इतने पर भी वे निस्सन्देह सम्पूर्णतः इन्द्रिय–दर्शन ही हैं; अर्थात् मानसिक पर्यायों (दशाओं) के रूप में वे अपूर्ण नहीं हैं।

इन्द्रिय-दर्शन (अवग्रह) भेद-भाव की दृष्टि से बारह प्रकार के हैं। दर्शन एक पदार्थ का हो, चाहे अनेक का–चाहे वह सादृश्यमय समूह हो, और चाहे असादृश्यमय पदार्थ—चाहे थोड़ा (हल्का) ढका हो अथवा बिल्कुल ही न ढका हो—स्थिर हो अथवा अस्थिर–मन्दगामी हो या तीव्र-गामी—वर्णन–योग्य हो, चाहे न हो।

मूल में बारह को चार से गुणा करने पर हमें अस्पष्ट-इन्द्रिय दर्शन (अवग्रह) के भेदों की सम्पूर्ण संख्या अड़तालीस मिल जाती है, जिनका अनुभव आँख को छोड़कर बाक़ी इन्द्रियों द्वारा होता है।

स्पष्ट अवग्रह के भेदों की संख्या २८८ है। यह संख्या

इन्द्रियों को संख्या की अर्थात् पाँच इन्द्रिय और एक मन (५+१) को अवग्रह के भेदों (१२) से गुणा करने और इस गुणनफल (७२) को पुनः ज्ञान के 'आश्रमों' या 'कक्षाओं' की संख्या (४) से-जो बाहरी उत्तेजना के आने पर पूर्ण-ज्ञान तक पहुँचने में उत्पन्न होती हैं—गुणा करने पर मिलती है । ये चार आश्रम या कक्षाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) केवल इन्द्रिय-दर्शन (अवग्रह)

(२) खोज की दशा-जब कि मन मानसिक ज्ञान के द्वारा बाहरी उत्तेजना के स्वरूप की परीक्षा करता है।

(३) परीक्षा-द्वारा निश्चित स्वरूप ।

(४) और—निर्णीत ज्ञान की धारणा ।

इनमें से प्रत्येक 'कक्षा' एक भिन्न और स्वाधीन ज्ञान की द्योतक है, और इस कारण वह एक-दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार ६×४×१२=२८८ क़िस्में हमें स्पष्ट इन्द्रिय-दर्शन की और ४८ भेद अस्पष्ट अवग्रह के मिलते हैं, जो मिलकर ३३६ होते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि दूसरी कक्षा के सम्बन्ध में मन में स्थिति मूर्ति प्रारम्भिक दर्शन (अवग्रह) से भिन्न प्रकार की है। वह प्रारम्भिक दर्शन-अवग्रह+आन्तरिक ज्ञान का अंश है। जैसे मैंने एक आवाज़ सुनी—यह केवल-

दर्शन-अवग्रह हुई। इसके बाद मैं सोचता हूँ—यह आवाज़ मेरे मित्र 'अ' की है; और फिर उसकी असलियत जानने को उत्सुक होता हूँ। यह खोज की अवस्था की कक्षा है। इसमें मैंने अपने मित्र को आवाज़ को मुख्यता दी है। अब प्रारम्भिक अवीग्रह के साथ एक अंश आन्तरिक ज्ञान का भी लग गया। तीसरी कक्षा तब पहुँचती है, जब इस बात का निर्णय होजाता है कि यह आवाज़ मेरे मित्र 'अ' की ही है। ज्ञान अब बिल्कुल स्पष्ट और साफ़ है। इसमें सम्भावना की पुष्टि निश्चित रूप से होती है। चौथी कक्षा में धारणा की नौबत आजाती है। ज्ञान अब 'अ'-सम्बन्धी संस्कारों के रूप में परिवर्तित होजाता है। और स्मृति-संगठन में स्थान पा जाता है।

२३—पौद्गलिक संयोग

शरीर में पुद्गल और जीव साथ साथ पाये जाते हैं। जीव अपने आप-इन्द्रिय-कर्त्तव्य को नहीं कर सकेगा। यद्यपि उस समय वह पूर्ण-ज्ञान का अधिकारी और उसका भोक्ता-शक्ति की अपेक्षा से नहीं, बलके सचमुच-होगा। पुद्गल अचेतन है और अपने-आप कुछ नहीं जान सकता है। पुद्गल का संसर्ग जीव के लिये महा हानिकर है। और वही आत्मा को वास्तविक परमात्म-पद अर्थात् अमरत्व, सर्वज्ञता और स्वाभाविक-सुख के मिलने में बाधक है।

ज्ञाता-भोक्ता-रूपी शारीरिक पिण्ड के सभी कामों के लिये—चाहे वह ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हो, चाहे कर्मेन्द्रियों से—पौद्गलिक संयोग का होना सर्वथा आवश्यक है। पुद्गल के विना ज्ञान और कर्म-इन्द्रियों की नाड़ियाँ और उनके विविध संयोग और शाखाएँ असम्भव होंगी। तब वहाँ न तो उपयोग होगा, और न विचारों का तारतम्य। उनके स्थान पर वहाँ एक साथ, एक ही समय में, सम्पूर्ण आन्तरिक ज्ञान का उद्भव हो जाएगा।

पुद्गल के विना मन-रूपी केन्द्रीय इन्द्रिय का अस्तित्व भी असम्भव है। पुद्गल के अभाव में वासनाओं और चरित्र के भेद भी लुप्त हो जायेंगे। तब सब प्राणी एक-जैसे ही रह जाएँगे। वासनाएँ तब स्वयं सामान्य ज्ञान-रूप में बदल जायेंगी।

शारांशतः मानवीय शरीर जैसे ज्ञान-और कर्मेन्द्रियों के पिण्ड के साम्राज्य में, ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ जीव और पुद्गल दोनों के विना काम चला लिया जाय। किन्तु जीव से पुद्गल को सर्वथा पृथक् कर देना सम्भव । यह तभी सम्भव है, जब हम इन्द्रियों को तृप्त करने वाले प्रलोभन से अपने को प्राभावित न होने देवें; अर्थात् वासनाओं का पेट भरना बंद कर दें ।

२४-सदाचार

"नेकी स्वयं अपना पुरस्कार है।" यह उक्ति बिल्कुल सत्य है, क्योंकि मनुष्यों-द्वारा चाहे पुण्य का महत्व न भी माना जाय और पुण्यात्मा पुरस्कृत न हो, किन्तु वास्तव में इस का फल मिले बिना नहीं रहता। जो अपने को पाखण्ड और मिथ्यात्व से छुड़ा लेता है, वह सम्यग्दर्शन पाने के योग्य हो जाता है, और उसके साथ ही उसके सम्यक्-ज्ञान का भी उदय हो जाता है। जो व्यक्ति अपने बुरे कषायों का अन्त कर देता है, उसे वह आत्मिक-निधियां मिलती हैं, जिनकी ठीक-ठीक क़ीमत परिमित शक्तिवाली बुद्धि नहीं कर सकी है। वस्तुतः जो अपने को कषायों और वाञ्छाओं से मुक्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शाश्वत्, सुखी और अमर हो जाता है।

धार्मिक गुण कहीं से लाये नहीं जाते; वे तो संसारी आत्मा की बुरी आदतों के ठीक प्रति पक्षी हैं, और अन्दर से ही अपने आप प्रतिरोधी बुराइयों के नष्ट होने पर प्रकट होते हैं—जैसे, ईमानदारी उसी समय एकदम प्रकट होती है जिस समय कोई व्यक्ति धोखा देना छोड़ देता है। किसी को यह सीखना नहीं पड़ता कि वह कैसे धर्मात्मा बने, किन्तु केवल उसे पाप से हटना पड़ेगा। यदि मैं क्रोध करना छोड़ दूँ तो तत्क्षण ही गम्भीर और शान्त बन जाऊँगा। मुझे इस

बात की आवश्यकता न होगी कि मैं गम्भीरता और शान्ति कहीं बाहर से खरीदूँ या वैसे ही माँगकर ले आऊँ।

इस प्रकार समस्त धर्म उसके भाग में आजाता है ज अपने को पाप से विलग करने के लिये तैयार होजाता है, और यह हम जानते ही हैं कि आखिरकार धर्म अपने भक्तों को कैसा श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

२५–शरीर का निर्माण करने वाली शक्तियां।

हमारी वासनाओं और शारीरिक अवयवों द्वारा उनके तृप्त करने की योग्यताओं का गहरा सम्बन्ध है। हाथ इच्छित पदार्थ को ग्रहण करने के लिये नियुक्त हैं, पैर इच्छित पदार्थ के पास तक पहुँचने अथवा शत्रु से दूर भाग जाने के लिये हैं। पेट भोजन को लेने और उसको पचाने के लिये है।

यह समान सम्बन्ध क्यों है? और कैसे है? यदि व्यवस्थापक शक्तियाँ स्वयमेव हमारी वासनायें ही नहीं हैं? वासनाएँ मृत्यु के बाद भी बनी रहती हैं। वे मृत्यु के साथ नष्ट नहीं हो जातीं। क्योंकि उनकी जड़ उस आत्मा के व्यक्तित्व में पैठी हुई है, जो अमर है। वे क्रियायुक्त आकांक्षाएँ हैं और केवल क्रिया-हीन कूड़ा-कचरा नहीं हैं। वे तब भी अवश्य अपनी क्रिया करती रहती हैं। जब गर्भस्थ-जीव माता के पेट में होता है। किन्तु वह करती ही क्या होंगी

वहाँ, सिवाय इसके कि वह अपनी हलन-चलन से शारीरिक अङ्गोंपाङ्गों को निर्माण करें।

यह प्रत्यक्ष है कि माता के पेट में बच्चे के रहने के समय वहाँ कोई शक्ति या शक्तियाँ अवश्य ही प्रगतिशील रहती है। और यह भी स्पष्ट है, कि गर्भ में स्वयं आत्मा मौजूद है—और मौजूद होना ही चाहिये—जब कि शरीर की रचना वहाँ होती है। (अमुक्त) आत्मा कोई कर्तव्य-हीन, अक्रिय, वेकार पदार्थ नहीं है। वह पुद्गल के संसर्ग में है। और पुद्गल के ही प्रभाव से वह सदा-सर्वदा आन्दोलन की अवस्था में रहता है। तब क्या यह कथन असंगत और मूर्खता-पूर्ण न होगा कि, ऐसा आत्मा अपनी शरीर की रचना में किसी तरह का भाग नहीं लेता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी इतनी घनिष्टता शरीर से हो, जितनी आत्मा की है, जो उस में रहता है। आत्मा का और शरीर का सम्बन्ध इतना गहन है कि वह एक बाल बराबर भी शरीर में घूम फिर नहीं सकता। तब फिर क्यों न आत्मा की मौजूदगी और उसके आन्दोलनों का प्रभाव शरीर-रचना पर पड़ेगा? जीवितावस्था में तो आत्मा की वासनायें अन्य पदार्थों का आनन्द लूटने में व्यस्त रहती हैं। किन्तु वे ही अब बाहरी शरीर के थोड़ी देर केलिये छूट जाने पर उस सामग्री पर अपनी क्रियाओं का प्रभाव डालती हैं जिस से कि शारीरिक अंगोपाङ्ग बनते हैं। और उन्हें

ठीक शक्ल में ढाल देने में भाग लेती हैं। इस प्रकार हम प्रारम्भ से ही शारीरिक बनावटों को वैयक्तिक इच्छा (will) के अधीन पाते हैं, क्योंकि वही व्यक्तिगत-वासनाओं और चरित्र का आधार है।

नवीन शरीर और उसके अमर-मालिक आत्मा के पूर्व जीवन में दो चीजें का भिन्न हैं । एक तो आत्मा है, जो उसमें बन्द है, और दूसरी उसकी वासनायें हैं, जिनको आत्मा अपने साथ इच्छाशक्ति (will) के रूप में लाया है। पिछले जीवन के पुराने नाड़ियों के सम्बन्ध और अन्य सब बातें अब सदा के लिये नष्ट हो गयी हैं। केन्द्रीय मानसिक अवस्था भी, यदि पूर्वजन्म से साथ आई हुई वासनायें उसे फिर से न बनने दें, तो अब नहीं रहेगी । इस अवस्था में वह उन बातों की याद भी न कर सकेगा जिनको वह पहले आसानी से याद कर लेता था। ऐसी हालतों में भी जहां कि मन फिर से बना हो, पुरानी स्मृतियों को याद कर लेना असम्भव है, क्योंकि पिछले नाड़ियों के संयोगों का अब अभाव है जो वासना को दर्शन-केन्द्रों से जोड़ सकें। ऐसी हालत में बाहरी दुनिया से उत्तेजना मिलने के अभाव में मानसिक वासनायें भी स्वयं सूख जायेंगी। मतलब कहने का यह है कि उन पुरानी मन्द पड़ी हुई वासनाओं को पुनः जागृत करना असम्भव होगा जो बाहरी दुनिया से उत्तेजना न पाने के कारण मन्द हो गई हैं। हाँ, किसी बाहरी कारण

के द्वारा वह तीव्रता के साथ उत्तेजित कर दी जायँ, कि जिससे चेतना (उपयोग) भड़क उठे, तो दूसरी बात है। ऐसे अवसर तब ही आ सकते हैं जब कोई ऐसा पदार्थ जो गत-जीवन में आत्मा में तीव्र-राग-द्वेष को भड़काया करता था फिर से सामने आ जाय। क्योंकि स्मृति के नाड़ी-तन्त्र के अभाव के माने यह नहीं हैं कि आत्मा में से जानने-देखने की शक्ति का-ही अभाव हो गया है? पुराने क्रियात्मक यन्त्र के नष्ट होने का परिणाम बस इतना ही होता है कि आत्मा अपने दर्शन विषयक केन्द्रों में पुरानी स्मृतियों को जागृत नहीं कर सकेगी। बटनों और कुञ्जियों के एक बार फिर से दर्शनोपयोग द्वारा बनाये जाने की जरूरत है। किन्तु ज्ञान तो उपस्थित ही है और उसको नये सिरे से बनाने की ज़रूरत नहीं है।

पिछले जीवन का ज्ञान उस हालत में भी होजाता है जब कि तपश्चर्य्या के प्रयोग से ज्ञानावरण का पर्दा पतला अथवा नष्ट कर दिया जाता है। (अन्यथा) अन्य अवस्थाओं में संसारी आत्मा के लिये पूर्व-भव की बातें याद कर लेना असम्भव है।

मनरूपी केन्द्रीय इन्द्रिय के अभाव का कारण व्यक्ति के उस जीवन व्यवहार में मिल सकता है जिसको उसने बिताया है। ऐसा मालूम होता है कि मनरूपी केन्द्रीय इन्द्रिय की प्राप्ति इस बात का चिन्ह है कि आत्मा ने एक

हद तक इन्द्रियों की गुलामी के जुए को हल्का कर दिया है। क्योंकि नीची योनियों के जीव (एकेन्द्रिय, द्वयेन्द्रिय, तृतीयेन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, और कोई-कोई पञ्चमेन्द्रिय भी) जिनके केन्द्रीय मानसिक यन्त्र नहीं हैं, इन्द्रियों की गुलामी में रहने के लिये ही जीवित हैं। वे प्रलोभन के सामने अपनी तबीयत को रोक नहीं सकते हैं, न विचार कर सकते हैं, और न विवेक से काम ले सकते हैं। अनुभव से लाभ उठाना भी उनके लिये असम्भव है। वे इन्द्रियों को चलायमान होने से नहीं रोक सकते। और उनके स्मरण शक्ति भी नहीं है। मछली की भाँति वे लगातार बार-बार काँटे को निगल जावेंगे, और ज़रा भी नहीं चौंकेंगे। इनके विपरीत जिन जीवों के मन की केन्द्रीय इन्द्रिय का सद्भाव है, उनमें ऐसे प्रलोभन के रोकने की शक्ति मौजूद है। वे अपने दिल को रोक सकते हैं, और इन्तज़ार भी कर सकते हैं। वे पिछले अनुभवों को याद कर लेते हैं। और उनकी स्मृतियों से वे अपने लिये उचित मार्ग निर्णीत कर लेते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों में भेद संक्षेप में यही है कि एक में तो इन्द्रियों की अपील (चञ्चलता) को रोकने की योग्यता है और दूसरे में नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें, तो कहेंगे—एक के ऊपर वासनाएँ अपना प्रभाव जमा लेती हैं, किन्तु दूसरे पर नहीं जमा सकती हैं। अब जब कि वासनाएँ आत्मा अपने एक भव से दूसरे भव में साथ ले जाता है,

तो जिन प्राणियों की इन्द्रियों की चलायमान् होने से रोक लेने की योग्यता है, उन्होंने उसको पिछले जन्म में अभ्यास द्वारा प्राप्त किया होगा। उन्होंने अवश्य पिछले जन्म में इन्द्रिय-दमन किया होगा, और वे जो अब अनी आकाङ्क्षाओं को आप अपने आधीन नहीं रख सके, और जो अपने कषायों एवं वासनाओं के गुलाम बन गये हैं, उन्हें अवश्य ही अपने मनरूपी यंत्र से आगामी-जीवन में हाथ धो-बैठने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। वे अपना जीवन इन्द्रियों में बिताते हैं। और इन्द्रियों में ही वे दूसरे जन्म में अपना जीवन व्यतीत करेंगे। वे मन की (विवेक-युक्त) जिन्दगी बिताते ही नहीं, और मन (अर्थात् विचार के मुख्य-यंत्र) की फिर उन्हें दूसरे जन्म में जरूरत न होगी।

मन की केन्द्रीय इन्द्रिय के स्थान में आत्मा कर्मेन्द्रियों के लीवरों (पुर्जों) से बँधा हुआ है। किन्तु इनका और की-बोर्ड के ज्ञान-इन्द्रियों-सम्बन्धी बटनों और कुञ्जियों का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। नीची श्रेणी के केन्द्रों में ही इन्द्रिय-दर्शन और क्रिया का सीधा-सीदा सम्बन्ध है। उपयोग की उच्चतम अवस्था पर मन की विवेक-शक्ति प्राप्त है। वह एक क्रिया के स्थान पर दूसरी को कर सकता है। और चाहे, तो कार्य को बिल्कुल स्थगित कर दे। इसलिये मन-रूपी केन्द्रीय क्षेत्र में इन्द्रिय-दर्शन और कार्य में एक-दम सम्बन्ध होने का अभाव स्पष्ट

है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति पाशविक जीवन बताए, अथवा 'खाओ-पियो, मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त-वाले जीवन में जा गिरे तो उसके सम्बन्ध में इन्द्रिय-उत्तेजना और कार्य का सीधा, सम्बन्ध अवश्य स्थापित हो जायगा, और विवेक की स्वतन्त्रता जाती रहेगी। उत्तेजना और क्रिया में इस प्रकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से विवेक यंत्र कार्य में न आने के कारण निष्क्रिय और मोटे पड़ जाएँगे। ऐसी अवस्था में इस बात की आशा व्यर्थ है, कि मृत्यु के बाद आत्मा के नये शरीर में विचार-यंत्र (मन) पुनः उत्पन्न हो। ऐसा व्यक्ति तो पीछे पशु-संसार-में जा पड़ेगा। एक और प्रकार के भी जीव हैं, जो विचार-यन्त्र को काम में तो लाते हैं, किन्तु सिर्फ़ दूसरों को दुख और तकलीफ़ पहुँचाने के लिये ही। वे दूसरों को परेशान करने के लिए नये-नये उपाय ईजाद करते रहते हैं, और अपने इस काम में बड़ा हर्ष मानते हैं। वे स्वभावतः इस मुख्य-यंत्र को अपने दूसरे जन्म में केन्द्री-भूत कर सकेंगे, किन्तु उनकी वासनायें बड़ी भयानक होंगी, और उनकी आत्मा बहुत ज्यादा पुद्गल के संसर्ग में जा फंसेगी। ये ही वे जीव होंगे, जिनके भाग्य में पीड़ा और दुख-भरे स्थानों में—जिन्हें नर्क कहते हैं और जहाँ से सौभाग्यवश एक नियत काल में निकलना सम्भव है—जाना बदा है।

वे व्यक्ति, कि जिनकी वासनाएँ इच्छानुकूल कार्य

करने को स्वाधीन नहीं हैं, अवश्य ही मृत्यु के बाद मनुष्य-योनि में जन्म लेंगे। और जो महानुभाव तपश्चर्या आदि के द्वारा उनको नष्ट करने के कार्य में व्यस्त हैं, वे और भी सुखद स्थानों—स्वर्गों—में जाएँगे जहाँ सुख तो है, परन्तु खेद है, कि वह चिरस्थायी नहीं। निर्वाण—अर्थात्, वह आनन्द-धाम, जहाँ से कोई कभी नहीं लौटता और न लौटने की चाह करता है, तब मिलता है, जब सब प्रकार की वासनाएँ नष्ट कर दी जाती हैं। तब किसी प्रकार की भी इच्छाएं आत्मा में बाक़ी नहीं रहती हैं और ज्ञान इच्छा की तड़पन से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है।

जीव और पुद्गल के संसर्ग में आने के लिये निम्न-लिखित दो नियम लागू है :—

(१)-जीवात्मा में आनेवाले पुद्गल की मिक़दार मन, वचन और काय की क्रिया पर अवलम्बित है, जिनके द्वारा हम अपने वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति किया करते हैं।

(२)—आत्मा के साथ पुद्गल के एकम-एक होने की घनिष्टमात्रा का परिणाम वैयक्तिक कषायों और इच्छाओं के ऊपर निर्भर है, जिसमें सब से ख़राब परिणाम वासनाओं के विशेष गहन-उद्वेग के फल-रूप है।

जब वासनाओं का पोषण नहीं किया जाता, और दृढ़ता से उन्हें दबा दिया जाता है, तो उनकी 'मृत्यु' होने लगती है। जिसका अर्थ यह है कि संचित पुद्गल को

अनिष्ठता तब कम होने लगती है, और वह बिल्कुल नष्ट भी करदी जा सकती है। इस प्रकार आत्म-संयम-द्वारा वे जल्दी ही उखाड़ फेंकी जा सकती हैं।

जहाँ आत्म-संयम का अभाव है, वहाँ प्रत्येक क्षण, एक लहमे से दूसरे लहमें में वासनाओं के पौद्‌गलिक आधार में परिवर्तित होता रहता है। मौजूदा पुद्‌गल प्रत्येक समय में होनेवाले आन्तरिक आन्दोलनों के रूप में खपता रहता है; और नवीन पुद्गल का बाहर से आश्रव होता रहता है। इस दृष्टि-कोण से आत्मा एक ऐसे तालाब की भाँति है, जो पानी से भरा हुआ है और जिसमें से भाप आदि बनकर पुराना संचित पानी तो प्रत्येक समय निकलता रहता है, और नया पानी उसमें पड़नेवाली नालियों से आता रहता है। यदि हमें इस बात की इच्छा है कि आन्तरिक तालाब सूख जाय, तो हमें चाहिये कि हम उसमें और नया पानी न आने दें। और अग्नि (आत्म-संयममयी त्याग) जलाकर बचे-खुचे पानी को भी भाप बना-कर उड़ादें।

मन्द और इसीलिये साधारणतया कम प्रभावशील वासनाओं और वेतावों से तड़पनेवाली वाञ्छाओं में अन्तर केवल तड़पने की शक्ति की मात्रा का है। दूसरे प्रकार की वाञ्छाओं में अधिक शक्ति का व्यय होता है। विशेष रूप से तड़पती हुई वासनाएँ हर समय पदार्थों में

इच्छा-पूर्ति करने की ढूँढ़-खोज में रहती हैं। और इस प्रकार नये पुद्गल को खींचती और संचित करती रहती हैं, जो उनकी अशान्ति को दुचन्द बढ़ा देता है। इस प्रकार वह एक विषैला चक्कर स्थापित कर देती है, जिसमें इच्छाओं और उनकी पूर्ति की मात्रा बढ़ती रहती है। पदार्थों के अभाव में ये वासनायें याददाश्त में आये हुए इन्द्रिय-उद्वेगों के द्वारा झूठी (काल्पनिक) इच्छा-पूर्ति करती रहती हैं, जिसके कारण भी स्वयं ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों के जाल-द्वारा नया पुद्गल संचित होता रहता है। जब आत्म-संयम को अपना लिया जाता है, और मन वाञ्छाओं को रोकने के योग्य हो जाता है, तब नये पुद्गल का आना रुक जाता है, और मौजूदा पुद्गल जल्दी ही नष्ट हो जाता है जिस से कि स्वयं वासनाओं का नाश होजाता है।

२६—लेश्यायें।

पुद्गल के संसर्ग के कारण संसारी आत्मा आकर्षण-विकर्षण के नियम का पात्र बन रहा है। अन्दोलन शक्ति की गति, मन्दता, तीव्रता, कोमलता अर्थात् समय-मात्रा (ताल) से आकर्षण का नियम लागू होता है। समय-मात्रा (ताल) हर प्रकार के force (शक्ति) से सम्बन्धित है। और अन्तिम खोज में सब प्रकार के द्रव्य शक्ति-रूप से चिन्हित पाये जाते हैं। विभिन्न पुद्गल-

समूह और संयोग म विभिन्न परिणाम और प्रकार की गति, समय-मात्रा आदि क्रिया होगी, और वह बाहरी पदार्थों की वैसा ही क्रिया के उत्तर में शीघ्र ही उत्तेजित (कर्तव्य-पराया) होगी, जैसे कि इच्छा-शक्ति की वासनाओं का हाल है। अब वह नियम जो जन्मान्तर को निश्चित करता है। यह है—वासनाओं की शक्ति की चाल-तेज़ी, ताल-आदि का परिणाम-रूप स्वभाव (प्रकृति) होता है, स्वभाव ही वह वस्तु है, जो भावी जन्मान्तर को नियत करने में मुख्य कारण है। आत्मा उस ओर आकर्षित होकर खिंच जाता है, जिस ओर उसकी आन्तरिक शक्तियाँ (आन्दोलन vibrations) बाहरी दुनियाँ में अपनी जैसी प्रतिक्रिया को पा लेती हैं, और वहीं उसका दूसरा जन्म होजाता है। यदि वह कास्मीर-जैसे किसी अति सुन्दर प्रदेश में पहुँच गया, तो कहा जायगा कि वह स्वर्ग में पहुँच गया। और यदि कहीं अफ्रीका के सहरा-जैसे भयानक मैदान में—जहाँ एक बूँद भी पानी नहीं मिलता—तो कहना होगा-वह नर्क में पहुँच गया। मनुष्यों में जन्म लेने के प्रश्न पर विचार करना अब व्यर्थ है, क्योंकि यह तो वासनाओं की आन्तरिक क्रियामय शक्तियों का प्रश्न है। इसी तरह हमें पशु या वनस्पति-योनि में जन्म लेने पर भी विचार करने की अब आवश्यकता नहीं है।

पौद्गलिक आन्दोलनों का गहन-सम्बन्ध वर्ण है, जिस

से आत्मा बिल्कुल अछूता है। किन्तु आत्मा पुद्गल के संसर्ग में है। इसलिये चारित्र के आगार-रूप, वह भी वर्ण से चिन्हित हो गया है। वह (वर्ण) आँख से नहीं देखा जा सकता, बल्कि अवधि-दर्शन के द्वारा दृष्टिगत किया जा सकता है। मुख्य वर्ण छः हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इन वर्णों के भी कितने ही रूपान्तर और भेद हैं। और वे वासनाओं के परिवर्तन के अनुसार समय-समय पर बदलते रहते हैं। किन्तु वर्ण के मुख्य भेद कुल छः हैं। इन्हें लेश्या कहते हैं। लेश्यायें आन्तरिक आन्दोलनों के विचित्र भावों को ही सचमुच प्रकट करती हैं, और आत्मा के भावी जन्म को निश्चित बनाती हैं। कृष्ण लेश्या सब से निःकृष्ट है। और वह व्यक्ति को सब से खराब प्रदेश और वातावरण में ले जाती है। इसके प्रतिकूल शुक्ल लेश्या श्रेष्ठ है, और इसका सम्बन्ध श्रेष्ठतम स्वर्गीय-जीवन से है। शेष लेश्यायें जीवन की माध्यमिक श्रेणियों से सम्बन्धित हैं।

पौद्गलिक संयोग (साहचर्य) की दृष्टि से जहाँ इच्छाओं की पूर्ति गहन-रूप में होती है, वहीं जीव और पुद्गल का एकमेक अति घनिष्ठता के साथ होता है। सुख और दुख के अनुभव के सम्बन्ध में यह देखा जा चुका है कि वे संसर्ग से अधिक दर्जे के जीव और पुद्गल के घनिष्ट एकीकरण को व्यक्त करते हैं। इन्द्रिय-लिप्सा की पूर्त्ति की अधिकाधिक कामना इस एकीकरण को अधिका-

धिक घनीभूत करती जायगी । यहाँ तक कि शब्दशः जीव से पुद्गल यों चिपट जाता है मानों गोंद लगाकर जोड़ दिया गया हो । अपनी वासनाओं-द्वारा जीवात्मा प्रत्येक क्षण अपने में सूक्ष्म, अदृश्य पौद्गलिक वर्गणायें आकर्षित करता रहता है । और यह आगमन सोते में भी चालू रहता है । क्योंकि सोने की हालत का मतलब वासनाओं और क्रिया के अभाव से नह जैसे कि स्वप्न अवस्था से स्पष्ट है ।

जीवात्मा और पुद्गल का एकीकरण आत्मा के स्वाभाविक कार्य का नहीं होने देता है । परिणामतः विविध प्रकार की सीमाएँ उस पर लग जाती हैं । क्योंकि पूर्ण ज्ञान और सुख एवं आत्मीय पूर्णतः के ऐसे ही अन्य रूप जीव—द्रव्य के स्वाभाविक गुण हैं । और न वह बनाये या सिरजे ही जा सकते हैं । पेड़ों में जीवात्मा पौद्गलिक बोझ से इस क़दर लदा हुआ है कि क़रीब करीब वह अचेत दशा में है । कीड़े-मकोड़े आदि निम्न-श्रेणी के पशु पेड़ों से एक पग बढ़े हुए जरा सचेत है । ऊँची श्रेणी के पशुओं में भी उत्तम प्रकार के मनो-योग का अभाव है । मनुष्य स्वयं बुद्धि-ज्ञान के शिखर पर सदा ही पहुँचा हुआ नहीं मिलता । यह सब कुछ विभिन्नता केवल पुद्गल के प्रभाव के कारण है, जो विविध प्रकार से जीवात्मा के साथ लगा हुआ है । भव-भ्रमण आफ़त का वह रूप है, जो सदैव

अविवेक जीवात्मा के भाग्य में पुद्‌गल के मेल के परिणाम-रूप बदा है। जो लोग पुण्य-कार्य करते हैं, वे जीवन क्रम में बहुत ऊपर चढ़ जाते हैं। यह इस कारण है कि पुण्य-कार्य में पाप-कार्यके मुक़ाबले में पुद्‌गल-रूपी सीमेन्ट कम चेपदार है। पुण्य-कार्य उदारता और संयम पर अवलम्बित हैं, जब कि पाप-कर्म व्यक्ति की स्वार्थ-पूर्ण वासनामयी उत्तेजनाओं की पूर्ति पर टिका है। जब जीवात्मा में इच्छित पदार्थों से रुचि को हटा लेने और स्व-ध्यान में लीन होने के कारण कोई पुद्‌गल प्रकाशित नहीं होता—तो वासनाओं को पनपानेवाला भोजन नहीं मिलता, और फलतः वे नष्ट होने लगती हैं। इसके विपरीत यदि पौद्गलिक आवरण पापी जीवन के कारण अति गहन हो जाता है, तो जीवात्मा अपने चेतन-उपयोग को काम में लेने के लिये हीन-कर्त्तव्य हो जाता है; और वह जीवन की उस नीचतम श्रेणी में पहुँच जाता है, जहाँ सिवाय-स्पर्श-इन्द्रिय ज्ञान के और वह कुछ अनुभव नहीं कर सकता है।

निर्वाण में जीवात्मा पुद्‌गल से रहित होता है। और वासनायें एवं लेश्यायें भी उसके वहाँ नहीं होतीं। वहाँ वह स्वच्छ, विशुद्ध, पवित्र ज्योति-रूप में विद्यमान रहता है।

वासनायें एक-एक करके दबाई तो जा सकती हैं, लेकिन वह सब नष्ट एक साथ ही हो सकती हैं। वह सब

वास्तव में इच्छा-शक्ति की ही रूपान्तर होती हैं; और स्वभावतः इच्छा-शक्ति के रहने तक बनी रहती हैं। उनकी उत्पत्ति राग व द्वेष के कारण से होती है, जो सदा बहिरात्मा (शारीरिक व्यक्तित्व) के सम्बन्ध में होता है। जब तक बहिरात्मा का प्रभाव अनुभव पर नहीं पड़ता उस वक्त तक वासनाओं की उत्पत्ति या पुष्टि नहीं होती। व्यक्तिगत राग-द्वेष रहित शुद्ध दर्शन केवल उसी आत्मा के हो सकता है, जिसने घात करनेवाले कर्मों को जड़-मूल से नष्ट कर दिया है शेष सभी जीव अपने-अपने अनुभवों को अपने शारीरिक व्यक्तित्व से, जिसकी भलाई का उनको सदा ध्यान रहता है,—सम्बन्धित करते रहते हैं। जब तक शारीरिक व्यक्तित्व की भलाई का ख्याल दिल में से पूर्णतः नहीं निकलता—उस समय तक वासनायें नष्ट नहीं हो सकती हैं, यद्यपि उनका एक-एक करके दबा दिया जाना सम्भव है। यही कारण है कि साधुजन ऊँचे गुणस्थानों से नीचे गिरते रहते हैं, जब तक वह कुल फिसाद की जड़—बहिरात्मा के प्रेम—को नष्ट नहीं कर सकें। इसका भाव यही है कि सब प्रकार की इच्छाओं का, जिनमें आहार और विरोधी-दल के भय से अपरिग्रह अवस्था के चिन्ह रूप—नंगेपन को ढकने की इच्छा भी शामिल है, त्याग लाज़मी है, यदि हम को निर्वाण के सुख की अभिलाषा है।

२७—श्रद्धान ।

श्रद्धान मन की स्थिति है, उसका एक खास प्रकार के विचारों के समूह (mental complex) की ओर झुक जाना है।

झूठा श्रद्धान वहिरात्मा की भलाई के चहुँ ओर केन्द्रीभूत होता है। जो कुछ और जो भी वहिरात्मा के फ़ायदे के लिये सहायक दृष्टि पड़े, चट संरक्षक और त्राण-दाता मान लिया जाता है। सर्वोच्च प्रकार का संरक्षक ईश्वर नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार का विश्वास प्रार्थना-द्वारा दृढ़ होता है। अर्थात् इस कल्पना के आधार से कि भक्त की प्रार्थनाओं के उत्तर में उसका ईश्वर उसकी माँगों को मंजूर कर लेता है, वह दृढ़ हो जाता है। जो लोग विचार-शून्य हैं, वह हमेशा ही अपने दैनिक जीवन की सुखद घटनाओं में इस प्रकार की स्वीकृति और कृपा को ढूँढ़ते रहते हैं, और ऐसी बातों को ईश्वर की कृपा का फल बताने में जरा भी नहीं हिचकिचाते जो वास्तव में साफ़-साफ़ प्राकृतिक कारणों पर अवलम्बित हों। इस प्रकार का मस्तिष्क पागलपन के चौड़े मार्ग की ओर सरपट बढ़ा चला जाता है।

जानकारी (खबर) और श्रद्धान में केवल इतना अन्तर है, कि खबर में तो अनिश्चय की मात्रा—अविश्वास का लक्षण मौजूद रहता है, किन्तु श्रद्धान में इसका अभाव

हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहिये कि श्रद्धान तो मानसिक अनिश्चय से मुक्त है, और जानकारी (खबर) नहीं है।

श्रद्धान का जन्म निश्चय से होता है, चाहे वह विचार से उत्पन्न हुआ हो और चाहे अनुभव से। किन्तु स्वभावतः विचार की अपेक्षा अनुभव को ही इसमें प्रमुख स्थान प्राप्त है; क्योंकि उसमें श्रद्धान के विषय की व्यवहारिक रूप से सिद्ध हो जाती है।

श्रद्धान संदेह के कारण विचिप्त और नष्ट भी हो सकता है। यह उस हालत में होता है, जब कि अनुभव-द्वारा श्रद्धान में आई हुई बात असम्भव-सी दिखने लगती है। यदि संदेह का निवारण प्राकृत रूप में अर्थात् तलाश और खोज-द्वारा नहीं हुआ, तो वह श्रद्धान को बिल्कुल नष्ट कर देगा। हाँ, यदि श्रद्धान का झुकाव दूसरी ओर को इतना ज्यादा हो, कि संशय उसे न हिला सके, तो इस हालत में संशय का गला घोंट दिया जावेगा, और श्रद्धान के विषय की फिर से इच्छा-शक्ति-द्वारा प्रतिष्ठा कर दी जावेगी।

अपनी आत्मा के परमात्मपन में विश्वास करना और बाहरी रक्षक या मुरब्बी ईश्वर में अविश्वास करना, सम्यक्-श्रद्धान है। वह आंशिक या पूर्ण-अन्वेपण द्वारा उत्पन्न होता है।

पहले-ही-पहले पाखण्ड और पागलपन की हठधर्मी (पक्षपात) को नष्ट किया जाता है, और उसके साथ-ही निकृष्ट (अनन्तानुबन्धी) प्रकार के कषायों का भी अन्त होता है। इसके परिणाम में विचारशीलता और निष्पक्षता का उदय आत्मा में हो जाता है। इस दशा में वह एक सच्चे गुरु का पता लगाकर उस से सत्य-धर्म का उपदेश ग्रहण करता है। इस ज्ञानोपदेश के लाभ का परिणाम यह होगा कि आत्मा, जिसकी आँखें अब सत्य के दर्शन के लिये खुल गई हैं, और भी गम्भीर और निर्मल हो जायगा। इस स्थिति में आत्मा जो कुछ उपदेश सुनेगा, उस पर गहन विचार करेगा, और उसकी शंकाओं का एक के बाद दूसरे का नाश होने का फल सम्यक्-श्रद्धान में मिलेगा। शंकाओं के कारण होनेवाली मानसिक उद्वेलना के बन्द हो जाने के परिणाम-स्वरूप विचारक आत्मा विशेष सन्तुष्ट होगा। आखिर में गुरु के वचन और शिष्य के परिमित ज्ञान-भण्डार के एकीकरण की स्पष्टता शान्ति तथा प्रशान्त मन की स्थापना से हो जायगी। इसका समर्थन सच्चे आनन्द के अनुभव से होगा, जिसे आत्मा अब प्रथम बार अनुभव करेगा। क्योंकि यह आनन्द का अनुभव उन बोझों के हल्का हो जाने से प्राप्त होगा, जिनके नीचे वह दबा हुआ था। अब वह जानता है कि मैं पुद्गल का एक दुखी नाशवान् पदार्थ नहीं हूँ। किन्तु

एक सच्चा परमात्मा हूँ; अमर हूँ, सर्वज्ञ हूँ, आनन्दमय हूँ, और अपने स्वरूप की प्राप्ति में किसी के रोके नहीं रोका जा सकता हूँ।

जहाँ एक वार गुरु के वचनों पर विश्वास हुआ, कि मन में नये विचार समूहों का जन्म और पुरानों का नाश होने लगा। वासनाओं की जड़ें, जो शारीरिक आकांक्षाओं में धँसी हुई थीं, अब ढीली हो जाती हैं, और फिर कभी भी अपनी पुरानी हालत को नहीं प्राप्त हो सकतीं। शारीरिक प्रेम भी, जो अज्ञानता की दशा में, हर वक्त में, और हर हालत में विचार में प्रधान बना रहता था, अब नष्ट होते हुए कम्पायमान होता है। अब वह जली रस्सी की शक्ल में ही रहता है। मगर इस दशा में भी, वह इतना शक्तिशाली हो सकता है, कि विचार में तीव्र मिथ्यात्व की पुट दे दे। अब पुराने पौराणिक देवता विदा हो जाते हैं। किन्तु मन अब भी कष्ट के सहन करने में असमर्थ है। जहाँ कोई आफ़त आई कि उसने झट नये आदर्शों से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करनी प्रारम्भ कर दी।

श्रद्धान के सम्बन्ध में यह नियम है, कि वह अपने को व्यवहार में लाये बिना नहीं रहता। इसका कारण मानसिक संयोग है, जिनसे नवीन उद्देश्य की स्थापना होती है और आत्म-द्रव्य का अखंडपन है। चूँकि वासनायें

जीवन-उद्देश्य के ही आस-पास डेरा जमाये होती हैं, चाहे वह (उद्देश्य) ग़लत हो या, इस कारण उनमें परिवर्तन भी होते रहते हैं, और वह उसके आधीन भी रहती हैं। इस प्रकार निर्दयता का स्थान दया या साधु-वृत्ति ले सकती है, और इससे उल्टा भी हो सकता है। यह तो केवल मन के उद्देश्य से सम्बन्धित प्रश्न है।

उद्देश्य की स्थिरता श्रद्धान पर अवलम्बित है, जो। आत्मा के जीवन-क्रम में सहस्रों बार गँवाया और पाया जा सकता है। हाँ, वैज्ञानिक श्रद्धान की बात दूसरी है। वह तो व्यवस्थित अध्ययन और अन्वेषण-द्वारा प्राप्त होता है, जिसके कारण उसमें विघ्न डालने के लिये कोई शंका शेष नहीं रहती। वहाँ भी जहाँ कुछ प्रश्नों का हल करना बाक़ी रह गया हैं, जोकि एक सीमित-बुद्धि के लिये प्राकृतिक बात है, मुख्य-सिद्धान्तों पर श्रद्धान होने से वे अधिक खोज की ओर ही ध्यान को लेजावेंगे। किन्तु उस दशा में स्थापित श्रद्धान में दख़ल देने को वह समर्थ नहीं होंगे।

२८-स्वाधीन मनोवृत्ति और कर्म।

स्वाधीन मनोवृत्ति और कर्म-विषयक सनातन पहेली आसानी से हल हो जाती है। कर्म स्वभाव (प्रकृति) के द्वारा ही

कार्य करता है। वह वासनाओं को परिवर्तित कर देता है; और उन्हें बदल देता है। स्वाधीन मनोवृत्ति केवल यह है, कि व्यक्ति जो चाहे, सो कर सके। अर्थात् वह कार्य जो हृदय (स्वभाव) को अति-प्रिय हों।

यह विषय ही उस दृष्टि से सम्बन्धित है, जिससे इस पर विचार किया जाय। यदि हम व्यक्ति के स्वभाव की पूर्वापेक्षाओं की ओर ध्यान देना न चाहें, तो जीवित प्राणी का प्रत्येक कार्य स्वतंत्र होगा। मगर जब ध्यान उन शक्तियों की ओर दिया जाय, जो स्वयम् मानव-स्वभाव को बनाती हैं, तो कोई भी कार्य उनसे विलग और इसलिए स्वतन्त्र नहीं कहा जायगा।

सत्य की शिक्षा के विषय में भी यह है, कि वह उन लोगों को प्राप्त नहीं होगी, जिनका स्वभाव उसकी प्राप्ति में बाधक हैं। वे उससे किसी बाहरी शक्ति-द्वारा वञ्चित नहीं रक्खे जाएँगे, बल्कि स्वयम् अपने ही स्वभावों द्वारा। वस्तुतः उन्हें इस सत्य-शिक्षा को ग्रहण न करने में ही आनन्द आयेगा। और वह अपनी मनोवृत्ति की स्वाधीनता-द्वारा उसे नापसन्द करना ही भला समझेंगे, क्योंकि वह शिक्षा उनके स्वभाव के अनुकूल न होगी। किन्तु यह उनकी स्वधीन मनोवृत्ति क्या है, जो उनके स्वभाव को सत्य के प्रतिकूल किये हुए है?—यही तो पूर्व-सञ्चित-कर्म कहलाता है।

इस प्रकार मोक्ष का द्वार केवल उन आत्माओं के लिये खुलेगा, जिनकी मनोवृत्ति सत्य को ग्रहण करने के लिए तत्पर होगई है। शेष उस समय तक बन्धन में पड़े रहेंगे, जब तक कि उनका मन वैज्ञानिक ढङ्ग का न हो जायगा, और उनमें सत्य को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न न हो जायगी। जो इस समय धार्मिक सत्य के विरुद्ध हैं, और जो सत्य के ज्ञाताओं को कष्ट देते हैं, वह अभी से ऐसी आदतें बना रहे हैं, जिनसे उनके मन का झुकाव सत्य के विरुद्ध हो जायगा, और वह कभी भी उसके ग्रहण करने के लिये अपने मन में रुचि नहीं पायेंगे! उनकी अवस्था सचमुच दुख-प्रद जान पड़ती है!

१—चरित्र !

श्रद्धान चरित्र की भित्ति है। मिथ्या श्रद्धान किसी-न-किसी रूप में वासनाओं और अकांक्षाओं को ही बढ़ाता है। उसका केन्द्र शारीरिक व्यक्तित्व है, जिसकी भलाई का ध्यान उसे सदैव रहता है। मिथ्या-श्रद्धानी लोग अपने देवताओं से भीख माँगते रहते हैं—"हमें बड़ी उमर प्रदान करो। स्वास्थ्य, धन, सम्पदा—आदि हमें दो। (अमर जीवन को माँगने का साहस उन देवताओं से उन्हें हो नहीं सकता) लोग, जिस किसी देवता की पूजा करते हैं, तो इस भय से कि कहीं उनका देवता उनसे रुष्ट न हो जाय। इन लोगों का विश्वास है, कि उनके भले-बुरे का करनेवाला कोई एक कर्ता-हर्ता ईश्वर है, जिसका उन्हें कृतज्ञ होना चाहिये। ऐसा श्रद्धान खेद-जनक है। वस्तुतः प्रकृति के पदार्थों और उनके गुणों एवं लक्षणों का कर्ता-हर्ता कोई नहीं है। प्रकृति स्वयं परिपूर्ण है। यदि प्रकृति एक कर्ता को बना सकती है (क्योंकि यदि कर्ता-हर्ता ईश्वर को प्राकृत न माना जायगा, तो उसका भी एक कर्ता ढूँढ़ना होगा) तो वह अन्य वस्तुओं को भी उत्पन्न कर सकती है। रही बात

धन्यवाद की, सो पहले यह तो देखिये, कि कितने प्राणी सचमुच सुखी और समृद्धिशाली हैं ? क्या करोड़ों की संख्या में मारे जानेवाले कीड़ों, या भेड़ों और बकरियों की दशा को ठीक समझें, जिनको शेर-चीते खा जाते हैं ? तो क्या वस्तुतः मनुष्य सुखी है ? हम में जो बड़े आदमी हैं—क्या उन्हें हम सुखी कह सकते हैं ? सच बात तो यह है, कि ईश्वर-द्वारा सृष्टि के रचे जाने का ख़याल ही महा-भयानक है । सृष्टि की रचना तो नितान्त क्रूर कर्म है। ज़रा उन आत्माओं की ओर देखिये, जो कर्म-बन्धनों में जकड़े हुए हैं—और जो अब तक उनसे अपना पिण्ड छुड़ा लेने में लाचार हैं । और भी देखिये, उस जन्म-मरण के बोझ को, जो उन पर लाद दिया गया है । क्या हम ऐसे व्यक्ति को, जिसने हमें दुःख, बन्धन और मृत्यु का ग़ुलाम बना दिया है, दयालु और मित्र कहें ? क्या वह व्यक्ति, जो इस बुरी तरह से हमें पीड़ा में डाले हुए है, प्रशंसा का पात्र है ? वस्तुतः आत्मा को दुःखों में डालनेवाले कर्ता-हर्ता ईश्वर के प्रति कृतज्ञता के लिए कोई स्थान ही शेष नहीं है। आत्मा तो अपने ईश्वरपन से वञ्चित किया गया है, और लूटा जा चुका है। भला हम उसकी पूजा उक्त कृपा के लिये करें, जिसने हमें लूट लिया है ? बुद्धि के दिवालियापन की भी कोई हद होनी चाहिये ! डर भी उचित नहीं है । यदि तुम अपने-आपको समझने की कोशिश

करो, तो तुम्हें विदित हो जाय, कि तुम्हीं खुद अपनी करनी के मालिक हो। चाहे तो खुद अपना भाग्य बना लो, चाहे बिगाड़ लो। सचमुच भावतः कोई व्यक्ति ऐसा फ़ाल्तू नहीं है—एक परमात्मा की तो बात ही न्यारी है—जो तुम्हारी छोटी-मोटी सभी कर्त्तूतों का चिट्ठा बनाये रक्खे, और उनके अनुसार तुम्हें प्रलय के दिन—अथवा मरने पर उससे पहले—सजा या इनाम भेंट करे। "मनुष्य! तू अपने को पहचान!!"—मानव के लिये यही एक ठीक उपदेश है, और यह कहना भी ठीक है कि—"मानव-जाति का सब से अधिक उचित अध्ययन मनुष्य ही है।"

सम्यक्-श्रद्धान सम्यक्-चरित्र की जड़ है। यह श्रद्धान बुद्धि की उस घृणित मान्यता से नितान्त अछूता है, जो व्यक्ति की स्थिति और दशा का मूल कारण एक कर्ता-हर्ता ईश्वर को बनाती है। सम्यक्-श्रद्धान से अलंकृत आत्मा दैव-प्रकोप के भय को दूर कर डालता है, और अपनी अप्रिय दशाओं का उत्तरदायित्व स्वयं अपने-आप साहस-पूर्वक स्वीकार करता है, और दृढ़ता के साथ वह पौराणिक देवताओं के निकट, जो उसके हृदय-मन्दिर में अब तक विराजमान थे, विदा हो जाने के लिये प्रार्थी होता है।

सम्यक्-'जीवन' का उद्देश्य हृदय की बुरी और भली, सब प्रकार की, वासनाओं को नष्ट करके आत्मा को पुद्गल के पञ्जे से छुड़ा लेना है; क्योंकि वासनाओं के द्वारा

(१०) सामायिक-प्रति दिन तीन बार आवश्यक रूप से ध्यान करना ।

(११) उपवास ।

(१२) वैयाव्रत्य—सेवा करना, मुख्यतः साधुओं की, और आहार, औषधि, ज्ञान, और अभय-रूप चारों दानों का देना ।

गृहस्थ अपने जीवन-पर्यन्त उक्त नियमों में पूर्ण सफल-प्रयत्न होने का उद्यम करता है । यदि वह सफल हो गया, तो बुढ़ापे के निकट पहुँचते ही 'संन्यास'-रूपी श्रेष्ठ मार्ग पर पहुँच जाता है ।

अन्तिम मृत्यु-शैया नियम, ठीक रीति से मरण करने का नियम है । जब मालूम हो जाय कि मृत्यु अवश्यम्भावी है—इसके पहले नहीं—तो गृहस्थ को यथा-शक्ति पूर्ण संतोष और शान्ति के साथ महान् उद्देश्य और आत्मा के स्वभाव का स्मरण करते हुए शरीर त्यागना चाहिये ।

अपने जीवन-निर्वाह के लिये गृहस्थ कोई भली (उत्तम) प्रकार की आजीविका करता है । और अध्ययन, दान और आत्म-संयम के अभ्यास में लीन रहकर—देव—शास्त्र—गुरु की (आदर्श के भाँति) पूजा करता है, और उनका अनुकरण करता है ।

उक्त प्रकार संक्षेप में गृहस्थ-जीवन का वर्णन है ।

साधु भी कतिपय नियमों का पालन करते हैं। और वह यह हैं। (१-५) गृहस्थ-धर्म के प्रारम्भिक पाँच नियम पूर्ण रूप से पालन करते हैं। साधु अपने लिये भोजन भी नहीं बनायेंगे, किसी भी दशा में असत्य और अप्रिय भाषण नहीं करेंगे, परिग्रह कुछ भी नहीं रक्खेंगे। लँगोटी भी नहीं पहिनेंगे। हाँ, कमण्डल, केवल शौच के पानी के लिये, और पीच्छी कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा के लिये ज़रूर रखते हैं।

(६—१०) पाँच समिति—वह विवेक-रहित शारीरिक क्रिया से भी किसी जीव को वाधा नहीं पहुँचायेंगे। चलने में, बोलने में, भोजन में, पुस्तक-आदि के उठाने-धरने और मल-निक्षेप करने में सावधानी से काम लेंगे, जिससे सूक्ष्म जन्तुओं की—जो हज़ारों की संख्या में हमारी ज़रा-सी असावधानी से मरते हैं—हिंसा न हो। शारीरिक माँगों और असावधानी की क्रियाओं का रोकना बिना इन पाँच प्रकार की समितियों के नहीं हो सकता!

(११—१३) तीन गुप्ति—मन, वचन, काय का उपयोग सावधानी से करना।

यदि एक जीवन में निर्वाण प्राप्त करना असम्भव हो, तो साधु स्वभावतः—'सल्लेखना-व्रत' का पालन करे; और सविधि शरीर का त्याग करे।

यह साधु-जीवन की संक्षिप्त रूप-रेखा है। साधु को सदा ही मृत्यु का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

यदि कोई सङ्कट या उपसर्ग आ पड़े, तो उससे टलकर हट जाना या मुँह छिपाकर भागना साधु के लिए उचित नहीं हैं। 'कष्ट-सहिष्णुता' उसके जीवन का एक अङ्ग है; और उससे उसे मुँह न छुपाना चाहिये। वह गृहस्थावस्था के समय के सभी संयमों को धारण करता है, और अपना समय केवल शास्त्राध्ययन, ध्यान और मुमुक्षुओं को धर्मोपदेश देने में व्यतीत करता है। वह दिन में केवल एक वार विधि-पूर्वक भोजन करता है। दोनों ही मार्गों के पथिक के लिए मद्य का सेवन करना भी मना है।

पुण्य और पाप दोनों-ही भव-भ्रमण को बढ़ाते हैं। हाँ, यह जरूर है, कि पुण्य से अच्छी दशायें नसीव होती हैं, और पाप से खराव। आत्मा और पुद्गल का संयोग तभी असम्भव हो सकता है—तोड़ा जा सकता है—जब अच्छे और बुरे सभी कर्म नष्ट हो जायें। इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह मनुष्य जो पुण्य-कर्म की सीमा से भी ऊपर चढ़ गया है, दुर्व्यसनी, पापी या बदमाश हो जायगा। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस दशा में न तो वह पुण्य और न पाप ही कर सकेगा। दुर्व्यसन को तो उसने बहुत पहले, श्रावक-दशा में ही, छोड़ दिया था। इसलिये अपने उच्चपद से नीचे गिरे-बिना वह उसे फिर ग्रहण नहीं कर सकता। वह अपने उस धैर्य को धारण किये (सुरक्षित) रक्खेगा। और अब दूसरों की भलाई, वह केवल उनको सत्य

के प्रकाश से प्रदीप्त करना-भर कर करेगा। और जब वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा, तो अपने पीछे दूसरों को उत्साहित करने-रूप एक आदर्श और स्मारक छोड़ जायगा, जो दूसरों को रोग और मृत्यु के पंजों से छुड़ाकर परमात्म-पद में स्थापित कर सकेगा। यह भलाई के कार्य से भी अति अधिक उत्कृष्ट है।

यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति इनमें से किसी चरित्र-नियम को (पालन करने के लिये) अत्यन्त कठिन अनुभव करे। किन्तु उनकी कठिनता का सहज इलाज है कि वह इनमें से केवल उन नियमों को धारण कर ले, जिनका वह सुगमतापूर्वक पालन कर सके, और जो कष्ट-दायक न जान पड़ें। यदि वह सम्यक्-दर्शन से प्रभावित हो गया है, तो एक समय ऐसा आयेगा कि जब वह स्वयं उन कठिन दिखाई पड़नेवाले नियमों के पालने की वाञ्छा करने लगेगा, और उपयुक्त अवसर के आते-ही, उनके पालन करने में रोके नहीं रुकेगा। यदि यह नियम असंभव ही जँचे, तो यह दुर्भाग्य की बात होगी। क्योंकि इसका अर्थ यही होगा, कि उसमें सत्य को समझने और उससे लाभ उठाने की योग्यता का अभाव है, जो स्वयम् सम्यक्-दर्शन (सम्यक-श्रद्धान) की प्राप्ति व दृढ़ता में भी बाधक होगा।

॥ समाप्तम् ॥

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	९	तत्व	तत्त्वं

१ के नीचे लकीर खींचकर निम्नलिखित टिप्पणी जोड़ दें:-
तत्त्व का अर्थ मुख्य विषय है। सात मुख्यतम विषय यह हैं:
१—जीव २—अजीव ३—आश्रव (पुद्गल का जीव में प्रवेश करना) ४—बन्ध ५—सम्बर (आश्रव का रुकना) ६—निर्जरा (पुद्गल का आत्मा से पृथक किया जाना) ७—मोक्ष। इनका वर्णन् इस पुस्तक में यथा-स्थान मिलेगा।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	१	गुणका अस्तित्व	अस्तित्व का गुण
४३	४	खास उन कुल पदार्थों,	खास २ पदार्थों
४४	१	के ममत्व का	का
४८	२	वाधाओं	वांछाओं
४९	३	कल्पना	कल्पना की
५८	१०	पड़ी।	पैड़ी।
६३	८	देता है	देते हैं।
७०	२१	सुख	शारीरिक सुख
७३	११	दुःख	सुख
७३	१९	को	के
७७	१	अनुभोग	अनुभव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	५	वाधित	निर्भर
८०	१	को संख्या की	की संख्या को
८०	२१	प्रारस्भिक	प्रारम्भिक
८२	१७	सन्भव	सन्भव है।
८६	६	का भिन्न	अभिन्न
८७	१५	प्रयोग से	कारण
८८	१	की इन्द्रियां की	को इन्द्रियों को
८८	४	अनी	अपनी
८८	५	सके	सकते
९०	७-८	मोटे पड़ जायँगे-	मोटा पड़ जायगा।
९४	२२	वर्णों	वर्ण से
९७	१	अविवेक	अविवेकी
९७	९	प्रकाशित	प्रविष्ट
१०१	१२	श्रद्धान में	श्रद्धान के रूप में
१०२	२	चा,	चा सही,
११०	१६	स्मरण	मरण